प्रकाशकीय-निवेदन

श्री १०८ मुनि मल्लिसागर दि० जैन ग्रन्थमाला का यह १७ वां पुष्प है। यह नवीन कृति विद्वद्वरेण्य पूज्य धर्मरत्न पं० लालारामजी शास्त्री की है। धर्मरत्नजी कीअगाध विद्वत्ता, कार्यदाक्षिण्य एवं अनुभवशीलता से जैन समाज भली भांति परिचित है। आपने ही सर्व प्रथम बडे २ संस्कृत काव्य एवं पुराण ग्रन्थों की टीकाएं सरल सुबोध हिन्दी भाषा में करके जन साधारण के लिये धर्मका मार्ग प्रदर्शित किया था। अथवा यों कहना चहिये कि धर्मग्रंथों के स्वाध्याय की प्रवृत्ति का मूल स्रोत आप ही हैं। आपने हमारी प्रार्थना को हृदयंगम करके ग्रंथमाला की तरफ से आपकी लिखी इस नवीन कृतिको प्रकाशित करने की अनुमति देकर जो उदारता प्रकट की उसके लिये ग्रंथमाला समिति आपकी अतीव आभारी है।

जैनधर्म के संबंध में इसके पहिले भी अनेक विद्वान् लेखकों ने पुस्तकें लिखी हैं। उस दिशा में यह भी एक सुन्दर प्रयास है। अत्यन्त पुरातन अनादि होने के साथ २ सर्वतोभद्र होना जैन धर्म की।अपनी एक विशेषता है। धर्म की सम्यक्-श्रद्धा, ज्ञान एवं आचरण में ही चराचर जगत् का कल्याण निहित है। आज के इस लोमहर्षक युगमें, जबकि संसार हिंसा और परिग्रहवाद के जालमें फंसकर विनाश की ओर तीव्र गतिसे जा रहा है जैन

धर्म के अहिंसा और अपरिग्रह के मूल सिद्धांत ही सर्वोदय की निर्मल किरणों को विश्व में प्रकाशित कर जनता को वास्तविक सुख और शांति प्रदान कर सकते हैं। अतः जैनधर्म से परिचय कराने वाली तथा जनता को सम्यक् मार्ग में अनुगमन करानेवाली ऐसी पुस्तकों की आज अत्यन्त आवश्यकता है। इस वर्तमान युगीन आवश्यकता को अनुभूत करके धर्मरत्नजी ने भी यह पुस्तक नवीन ढंग से अत्यंत सरल भाषा में लिखी है जिससे कि सर्व-साधारण जनता इससे लाभ उठा सके।

प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन एवं प्रूफ संशोधनादि के कार्य में श्री माननीय विद्वान् पं० इंद्रलालजी शास्त्री विद्यालंकार संपादक 'अहिंसा' ने बहुत श्रम प्रदान किया है। आपकी इस अनुग्रहपूर्ण कृति का ग्रंथमाला समिति समादर करती है।

पुस्तक को मुद्रित कर इसे सर्वांग सुन्दर बनाने में श्री भंवरलालजी न्यायतीर्थ मालिक:-श्री वीर प्रेस, जयपुर ने भी काफी परिश्रम किया है। अतः वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

मैं आशा करता हूँ कि इस पुस्तक का धर्मशील जनता में समुचित आदर होगा।

नांदगांव (नासिक)
श्री महावीर निर्वाण दिवस
श्री वीर नि० संवत्
२४८०

विनीत—
तेजपाल काला जैन
ऑ० मंत्री १०८ मुनि मल्लिसागर
दि० जैन ग्रन्थमाला

विषय-सूची

क्रम सं०	विषय			पृष्ठ

॥ श्रीः ॥

वीतरागाय नमः

जैन-दर्शन

लेखक

धर्मरत्न पं० श्री लालारामजी शास्त्री

मैनपुरी (उ. प्र.)

१--जिन का स्वरूप

भगवान् जिनेन्द्र देवको जिन कहते हैं। जो आत्मा ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय कर्मों का सर्वथा नाश कर देता है उसको जिन या जिनेन्द्र कहते हैं। ज्ञानावरण कर्म के नाश हो जाने से वह सर्वज्ञ हो जाता है। दर्शनावरण कर्म के नाश होजाने से वह सर्व-दर्शी हो जाता है। मोहनीय कर्म के नाश हो जाने से वह भूख, प्यास, जन्म, मरण, बुढ़ापा, भय, राग, द्वेष, मोह, चिंता, पसीना, मद, आश्चर्य, अरति, खेद, रोग, शोक, निद्रा आदि समस्त दोषों से रहित होकर अपने आत्मा में लीन हो जाता है और अन्तराय कर्मके नाश हो जाने से वह अनंत शक्तिमान् हो जाता है। ऐसे सर्वज्ञ वीतराग आत्माको जिन कहते हैं। यह आत्मा इन कर्मोंका नाश किस प्रकार करता है या प्रत्येक प्राणी इन

कर्मोंका नाश किस प्रकार कर सकता है यह सब सम्यक् चारित्र के विषय में निरूपण किया गया है।

भगवन् जिनेन्द्र देव सर्वज्ञ हैं, सर्वदर्शी हैं और राग द्वेष आदि समस्त विकारों से रहित हैं। अतएव ऐसे भगवान् जिनेन्द्र देव जो कुछ मोक्ष-मार्ग का उपदेश देते हैं वह उपदेश यथार्थ मोक्षमार्ग कहलाता है। राग न होने से वे न तो किसी का पक्षपात करते हैं और द्वेष न होने से वे किसी का विरोध भी नहीं करते। उनके पूर्ण ज्ञान में और पूर्ण दर्शन में जो कुछ देखा या जाना गया है वही उपदेश देते हैं और वही यथार्थ मोक्षमार्ग कहलाता है।

२–धर्मका स्वरूप

जो मोक्षमार्ग है वही धर्म है और वही आत्माका स्वभाव है। यह निश्चित सिद्धांत है कि आत्मा का स्वभाव प्रगट होने से ही आत्माके राग द्वेपादिक विकार और ज्ञानावरणादिक कर्म नष्ट हो सकते हैं और इन्हीं विकारों को या कर्मों को नष्ट करने के लिये ये संसारी जीव धर्मका पालन करते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि आत्माके जितने स्वभाव हैं उनका प्रकट होना धर्म है। आत्मा के अनेक स्वभाव हैं। परन्तु उनमें मुख्य और विशेष स्वभाव रत्नत्रय है और इसीलिये रत्नत्रय धर्म है तथा रत्नत्रय ही मोक्षका साक्षात् मार्ग है।

जो इस जीवको संसार के दुःखों से छुड़ाकर मोक्षरूप अनन्त सुखमें स्थापन करदे उसको धर्म कहते हैं। शास्त्रकारों ने यही धर्म

का स्वरूप बतलाया है और यही धर्म का यथार्थ स्वरूप हो सकता है। इसका भी कारण यह है कि संसारी जीवों के जितने दुःख होते हैं वे सब राग द्वेष आदि विकारों से और कर्मों के उदय से होते हैं तथा उन कर्मों को या विकारों को नाश करने वाला आत्मा का रत्नत्रय रूप स्वभाव ही होसकता है। उसी रत्नत्रय रूप स्वभाव से समस्त कर्म नष्ट हो कर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

रत्नत्रयका अर्थ तीन रत्न हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। ये तीन रत्न कहलाते हैं और ये ही मोक्षके साक्षात् कारण हैं। आगे इन्हीं का स्वरूप अत्यन्त संक्षेपसे कहते हैं।

३—सम्यग्दर्शनका स्वरूप

यह जीव अनादि कालसे इस संसार में परिभ्रमण करता चला आरहा है। राग-द्वेष-मोह के कारण यह सदा काल अनंत कर्मों का बंध करता रहता है और उन कर्मों के उदय होने पर चारों गतियों में अनेक महा दुःख भोगता रहता है। यद्यपि संसार के सब ही जीव सुखकी इच्छा करते हैं परन्तु सुख प्राप्त होने के मार्ग पर नहीं चलते। सुख चाहते हुए भी राग द्वेष मोह के कारण सुख प्राप्त होने के विपरीत मार्ग पर चलते हैं।

ऊपर बता चुके हैं कि दुःखका कारण राग द्वेष मोह है। इसलिये सुख का कारण राग द्वेष मोह का अभाव है। राग द्वेष मोहका अभाव होने से नवीन कर्मों का आना बंद हो जाता है और फिर ध्यानादिक के द्वारा पूर्व कर्मोंका यथा संभव नाश होने पर

आत्माका स्वभाव प्रकट हो जाता है। यही आत्माका शुद्ध स्वभाव यथार्थ सुखका या मोक्षका कारण होता है।

कर्मों का स्वरूप इसी ग्रंथ में आगे बतलाया गया है। इनमें एक मोहनीय कर्म है। इसके दो भेद हैं-एक दर्शन मोहनीय और दूसरा चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं-मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति-मिथ्यात्व तथा चारित्र मोहनीय के पचीस भेद हैं। इनमें अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ ये चार प्रबल भेद हैं। ऊपर यह बतला चुके हैं कि सम्यग्दर्शन आत्माका एक स्वभाव है। वह आत्माका सम्यग्दर्शन रूप स्वभाव मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति-मिथ्यात्व इन दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियों से तथा अनन्तानुबंधी क्रोध मान माया लोभ इन चारित्र मोहनीय की चार प्रकृतियों से ढका हुआ है। जब यह संसारी जीव धर्म से विशेष रुचि रखता है और काल लब्धि आदि निमित्त कारण मिल जाते हैं उस समय इन सातों प्रकृतियों का उपशम हो जाता है। उपशमका अर्थ है, शांत होजाना। जैसे मिट्टी मिले पानी में फिटकरी या कतक द्रव्य डालने से मिट्टी नीचे बैठ जाती है और स्वच्छ पानी ऊपर आजाता है उसी प्रकार जब ऊपर लिखे सातों कर्म शांत हो जाते हैं अपना फल नहीं देते उस समय इनका उपशम कहलाता है। जिस समय इन सातों कर्म प्रकृतियों का उपशम हो जाता है उसी समय आत्मा का वह स्वभाव, जिसको कि ये सातों प्रकृतियां ढके हुए थीं, प्रकट होजाता है। बस आत्मा के उसी देदीप्यमान स्वभाव को सम्यग्दर्शन कहते हैं।

जिस प्रकार बादल सूर्यको ढक लेते हैं तथा बादल के हटजाने पर सूर्यका प्रकाश प्रकट हो जाता है। उसी प्रकार ऊपर लिखी सातों प्रकृतियों के उपशम हो जाने पर आत्मा का जो सम्यग्दर्शन स्वरूप स्वभाव प्रकट हो जाता है वह भी एक प्रकार का अमूर्त्त आत्माका प्रकाश है। तथा जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से संसार के पदार्थ दिखाई पड़ते हैं उसी प्रकार उस आत्मा के अमूर्त्त प्रकाश से आत्माका अमूर्त्त स्वरूप दिखाई पडता है। जिस प्रकार किसी अंधेरे कोठे में कई मनुष्यों के अनेक पदार्थ रक्खे हों तो बिना प्रकाश के कोई भी मनुष्य अपने किसी पदार्थ को नहीं पहिचान सकता तथा अंधेरा होने के कारण किसी दूसरे के पदार्थ को भी अपना समझ सकता है, उसी प्रकार जब तक यह सम्यग्दर्शन रूपी प्रकाश प्रकट नहीं होता है, तब तक यह आत्मा अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूपको कभी नहीं पहचान सकता। अंधेरे के कारण आत्मा के स्वरूप की यथार्थ पहिचान के बिना यह आत्मा अपनेसे भिन्न राग द्वेष मोह आदि पौद्गलिक पदार्थोंको अपना कहने लग जाता है। यहां तक कि स्त्री, पुत्र, मित्र, मकान, सोना, चांदी आदि जो पदार्थ आत्मा से सर्वथा भिन्न हैं उनको भी यह अपना मानने लगता है। यह सब उसका विपरीत श्रद्धान ज्ञान है। जब वह सम्यग्दर्शन रूपी आत्मा का प्रकाश प्रकट हो जाता है उस समय उसका वह विपरीत श्रद्धान ज्ञान दूर हो जाता है और वह अपने आत्माके स्वरूपको अपना समझ कर उसी को ग्रहण करता है। इस प्रकार जब यह आत्मा अपने आत्माको और आत्माके गुणों को अपना समझने लगता है तब वह राग द्वेष मोह आदि

पौद्गलिक पदार्थों को पौद्गलिक अथवा अपने आत्मा से भिन्न समझकर या परकीय समझकर उनका त्याग कर देता है तथा आत्मा के शुद्ध स्वरूपका श्रद्धान करने लगता है, उसका यथार्थ स्वरूप समझने लगता है और परकीय पदार्थोंका त्याग कर आत्मा में ही लीन होनेका प्रयत्न करता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन प्रकट होने पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र भी यथासंभव रूप से प्रकट हो जाते हैं।

ऊपर यह बता चुके हैं कि सम्यग्दर्शन के प्रकट होने पर यह आत्मा अपने आत्मा के यथार्थ स्वरूप का श्रद्धान करने लगता है; तथा साथ ही साथ पुद्गल आदि अन्य समस्त पदार्थों को आत्मा से भिन्न मानता हुआ उन सबका यथार्थ श्रद्धान करने लगता है। इस प्रकार वह समस्त तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करने लगता है। इसीलिये आचार्योंने सम्यग्दर्शन का लक्षण "समस्त तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करना" बतलाया है। वास्तव में देखा जाय तो सम्यग्दर्शन का यही अर्थ है। यद्यपि दर्शन शब्द का अर्थ देखना है परंतु मोक्ष मार्गका प्रकरण होने से यहां पर दर्शन का अर्थ श्रद्धान लिया जाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन का अर्थ तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान हो जाता है।

समस्त तत्त्वों में आत्म तत्त्व ही प्रधान है। आत्म तत्त्व में भी शुद्धात्मतत्त्व प्रधान है। क्योंकि शुद्धात्म तत्त्वकी प्राप्ति होना ही मोक्ष की प्राप्ति है। जो आत्मा कर्मों को नाश कर अपना शुद्ध स्वरूप प्रकट कर लेता है वह देव या जिन कहलाता है। इसीलिये

शुद्धात्म तत्त्वका श्रद्धान करना ही जिन अथवा देवका यथार्थ श्रद्धान करना है। यह बात पहले कही जा चुकी है कि वे जिन वा देव राग द्वेष मोह से सर्वथा रहित वीतराग होते हैं और सर्वज्ञ होते हैं। उनका कहा हुआ उपदेश धर्म कहलाता है। उसी उपदेश को शास्त्र भी कहते हैं। इसीलिये जब सर्वज्ञ नहीं होते उस समय धर्म का स्वरूप शास्त्रानुकूल ही माना जाता है। क्योंकि शास्त्र प्रवचन परंपरा पूर्वक सर्वज्ञ के उपदेश के अनुसार अक्षुण्ण रूपसे चला आ रहा है। तथा उन्हीं शास्त्रों के कथनानुसार गुरु या आचार्यों का स्वरूप माना जाता है। इस सब कथन से यह बात सिद्ध हो जाता है कि आत्मा के शुद्ध स्वरूप के श्रद्धान के साथ साथ यथार्थ देव शास्त्र गुरुका या देव धर्म गुरुका श्रद्धान हो जाता है अथवा यों कहना चाहिये कि शुद्ध आत्मा का श्रद्धान करना और देव शास्त्र गुरु या देव धर्म गुरु का श्रद्धान करना दोनों एक ही बात है। इसीलिये आचार्योंने समस्त तत्त्वों का श्रद्धान करना अथवा देव शास्त्र गुरु का या देव धर्म गुरुका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन बतलाया है। इनमें से किसी एक का श्रद्धान होने पर भी अन्य सबका यथार्थ श्रद्धान हो जाता है। इसीलिये सम्यग्दर्शन के दोनों लक्षण एक ही हैं। उनमें कोई अन्तर नहीं है।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि देव कहने से पंच परमेष्ठी लिये जाते हैं। अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी कहलाते हैं। "परमे स्थाने तिष्ठतीति परमेष्ठी अर्थात् जो अपने सर्वोत्कृष्ट स्थानमें रहें उन्हें परमेष्ठी

कहते हैं। इनमें से अरहंत और सिद्धोंका स्वरूप देव में आजाता है और आचार्य उपाध्याय साधुका स्वरूप गुरुमें आजाता है। इसीलिये पंच परमेष्ठी का श्रद्धान भी देव गुरु का श्रद्धान कहलाता है और इसीलिये पंच परमेष्ठी का श्रद्धान करना भी सम्यग्दर्शन कहलाता है।

इन पांचों परमेष्ठियों का वाचक णमोकार मंत्र है और वह उन परमेष्ठियों को नमस्कार करने रूप है। उसका स्वरूप इस प्रकार है।

णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं णमो आयरीयाणं।
णमो उवज्झायाणं णमो लोए सव्वसाहूणं॥

इसका अर्थ है; संसार में जितने अरहंत परमेष्ठी हैं उन सबको नमस्कार हो। जितने सिद्ध परमेष्ठी हैं उन सबको नमस्कार हो। संसार में जितने आचार्य हैं उन सबको नमस्कार हो। संसार में जितने उपाध्याय परमेष्ठी हैं उन सबको नमस्कार हो और संसार में जितने निर्ग्रंथ साधु हैं उन सबको नमस्कार हो।

यह पंच परमेष्ठी का वाचक मंत्र अनादि और अनिधन है। इसका भी कारण यह है कि यह सृष्टि अनादि है मोक्षमार्ग अनादि है और उसके कारणभूत समस्त तत्त्व-देव, शास्त्र गुरु और पंच परमेष्ठी भी अनादि है। जब पंच परमेष्ठी अनादि हैं तो उनके वाचक शब्द भी अनादि हैं। क्योंकि 'सिद्धो वर्ण-

समाम्नाय:" इस व्याकरण के सूत्र से भी अकारादि वर्णसमूह अनादि सिद्ध होता है। तथा इस णमोकार मंत्र के वाच्य परमेष्ठी, अनादि हैं तो उनका वाचक यह णमोकार मंत्र भी अनादि ही सिद्ध होता है। इसके सिवाय यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि संस्कृत नित्य-नियम की पूजा के प्रारम्भ में ही णमोकार मंत्र का पाठ पढ़ा जाता है और फिर "ॐ अनादिमूलमंत्रेभ्यो नमः" यह पढकर पुष्पांजलि का क्षेपण किया जाता है। तदनंतर 'एसो पच णमोयारो' आदि पाठ से णमोकार मंत्र का महत्त्व प्रगट किया जाता है। इससे णमोकार मंत्र अनादि सिद्ध होता है। यह णमोकार मंत्र और इसकी पूजा भक्ति श्रद्धा आदि भी मोक्षप्रद है, ऐसा सिद्ध होता है। इसीलिये यह मानना पडता है कि इसकी श्रद्धा भी सम्यग्दर्शन स्वरूप ही है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। दूसरी बात यह है कि संस्कृत का व्याकरण अपरिवर्तनशील है और उसके अपरिवर्त्तनशील होने से तज्जन्य प्राकृत भाषा भी अपरिवर्त्तनशील है। इस सिद्धान्त के अनुसार अनादि कालीन पंच परमेष्ठी का वाचक णमोकार मंत्र भी अनादि है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है।

जब पंच परमेष्ठी का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है—जैसाकि ऊपर बता चुके हैं तो इस णमोकार मंत्र में अत्यंत अनुराग रखना भी सम्यग्दर्शन का चिन्ह या लक्षण है। यही कारण है कि समाधिमरण के समय अन्त कालमें जबकि इन्द्रियां शिथिल होकर कुछ काम नहीं करतीं—कंठ भी रुक जाता है उस

समय णमोकार मंत्र में अनुराग रखना और उसके द्वारा पंच परमेष्ठी में भक्ति भावना रखना ही आत्मा का कल्याण करने वाला बतलाया है।

इस प्रकार आत्मा आदि समस्त यथार्थ तत्त्वों का श्रद्धान करना अथवा यथार्थ देव शास्त्र गुरु या यथार्थ देव धर्म गुरु का श्रद्धान करना अथवा पंच परमेष्ठी और तद्वाचक णमोकार मंत्र में श्रद्धान या अनुराग रखना सम्यग्दर्शन के लक्षण हैं।

४—सम्यग्दर्शन के गुण

जिस समय यह सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है उस समय प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य ये चार गुण भी उसके साथ ही प्रकट हो जाते हैं। प्रशम शब्दका अर्थ शांत परिणामों क होना है। सम्यग्दर्शन प्रकट होने से उस आत्माके परिणाम अत्यंत शांत हो जाते हैं। पहले कह चुके हैं कि अनंतानुबंधी क्रोधमान माया लोभ इन चारों तीव्र कषायोंका उपशम होने से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है। ऐसी अवस्थामें जब तीव्र कषायों का उपशम हो जाता है तब परिणामों में भी अत्यन्त शांतता आजाती है। तीव्र कषायों के न होने से तथा आत्मा का यथार्थ स्वरूप समझने के कारण किसी भी दुःख या उपद्रवके आजाने पर वह सम्यग्दृष्टी आत्मा उस दुःख या उपद्रवको कर्मोंका उदयरूप मानता है और इसीलिये वह शांत रहकर फिर भी आत्माके यथार्थ स्वरूप का ही चिंतवन करता है। उस समय वह किसी भी तीव्र कषाय को प्रकट

नहीं होने देता। इस प्रकार उसका प्रशम गुण सम्यग्दर्शन के साथ ही प्रगट हो जाता है।

सम्यग्दर्शनका दूसरा गुण संवेग है। जन्म मरण रूप संसार से वा चतुर्गति रूप संसार से भयभीत होना संवेग कहलाता है। आत्माका यथार्थ श्रद्धान और यथार्थ ज्ञान होने से सम्यग्दृष्टी आत्मा यह समझने लगता है कि यह आत्मा अपनी ही भूलसे अथवा आत्माका यथार्थ ज्ञान न होने से अब तक चारों गतियों में परिभ्रमण करता रहा है, तीव्र कषायों के होने से पाप रूप कर्मों का बंध करता रहा है और उन पाप रूप कर्मों के उदय से चारों गतियों में परिभ्रमण करता हुआ महा दुःखों का अनुभव करता रहा है। इसलिये यदि अब अपने आत्मा को दुःखों से बचाना है तो चतुर्गतियों के कारणों से बचना चाहिये, उनसे डरना चाहिये और उनके मिटाने का प्रयत्न करना चाहिये। उस सम्यग्दृष्टी का इस प्रकार समझना ही संवेग गुण है। इस संवेग गुण के कारण ही वह आत्मा अपने आत्माका कल्याण करने में लग जाता है और दुःखों के कारणों का त्याग कर देता है।

सम्यग्दर्शन का तीसरा गुण अनुकंपा है। अनुकंपा दयाको कहते हैं। सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर वह आत्मा आत्माका यथार्थ स्वरूप जान लेता है तथा अपने आत्माके समान ही वह अन्य समस्त संसारी जीवों की आत्माओं को समझता है। अपने लिये जो दुःख के कारण हैं उनको अन्य जीवों के लिये भी समझता

है। वह समझता है कि जिस प्रकार मारने से मुझे दुःख होता है उसी प्रकार अन्य समस्त जीवों को दुःख होता है। इसीलिये वह समस्त जीवों पर समान रूप से दया धारण करता है, अत्यन्त दयालु बन जाता है और फिर वह किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करता। झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहादिकों की तृष्णा को भी हिंसा का कारण समझ कर छोड़ देता है तथा मद्य मांस और मधु को अनंत जीवराशिमय समझ कर उनका स्पर्श तक नहीं करता। वह समझता है कि इनका स्पर्श करने मात्र से भी अनंत जीवोंका घात हो जाता है। यही समझ कर वह ऐसे पदार्थों को कभी काममें नहीं लाता और इस प्रकार वह पूर्ण रूपसे अनुकंपा या दया का पालन करता है। ऐसी यह दया आत्मज्ञान के कारण ही उत्पन्न होती है। जिस आत्मामें सम्यग्दर्शन नहीं है तथा सम्यग्दर्शन न होने से सम्यग्ज्ञान या आत्मज्ञान भी नहीं है ऐसा कोई भी इस प्रकार उत्तम दया का पालन कभी नहीं कर सकता। सम्यग्दृष्टी जीव सदा दयालु होता है।

शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सिंह व्याघ्र आदि हिंसक जीव भी काललब्धि के निमित्त से तथा किसी मुनि आदि के सदुपदेश से सम्यग्दर्शन प्राप्तकर लेते हैं और फिर वे आत्मज्ञान होने के कारण हिंसा या मांस-भक्षण आदि पापमय कार्यों को सर्वथा छोड़ देते हैं। यहां तक कि वे पानी भी प्रासुक ही पीते हैं। इस प्रकार की दया का होना सम्यग्दर्शन का ही कार्य है। अन्य किसी का नहीं।

सम्यग्दर्शन का चौथा गुण आस्तिक्य है। आस्तिक्य आस्तिकपने को कहते हैं। ऊपर लिखे अनुसार देव धर्म शास्त्र गुरुका श्रद्धान करना, यथार्थ तत्त्वोंका श्रद्धान करना और लोक परलोक आदि सब भगवान् जिनेन्द्र देव के कहे अनुसार मानना आस्तिकपना कहलता है। सम्यग्दृष्टी जीव सम्यग्दर्शन के प्रभाव से भगवान जिनेन्द्र देव पर गाड श्रद्धान करता है और इसीलिये वह उनके वचनों पर भी गाड श्रद्धान करता है। इसीलिये वह परम आस्तिक कहलाता है। यह ऐसा गाड आस्तिकपना सम्यग्दर्शन के प्रभावसे ही होता है और इसीलिये यह सम्यग्दर्शन का गुण कहलाता है।

इस प्रकार प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य ये चार गुण सम्यग्दर्शन के प्रगट होने पर होते हैं तथा सम्यग्दर्शन के चिह्न या लक्षण कहलाते हैं। सम्यग्दर्शन आत्माका अमूर्त्त गुण है। वह इन्द्रिय-गोचर नहीं हो सकता; परन्तु इन चारों गुणों से जाना जाता है।

सम्यग्दर्शन के गुण

सम्यग्दर्शन के पचीस गुण हैं-आठ अंग, आठों मदों का त्याग तीन मूडताओं का त्याग और छह अनायतनों का त्याग। आगे इन्हीं को अनुक्रम से बतलाते हैं।

सम्यग्दर्शनके आठ अंग हैं-निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूडदृष्टि उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

जिस प्रकार शरीर में हाथ पैर आदि अंग होते हैं उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के ये आठ अंग हैं। जिस प्रकार शरीर में किसी एक अंग के भी न होने से वह शरीर बेकार हो जाता है उसी प्रकार यदि किसी एक अंगका भी पालन न हो तो वह सम्यग्दर्शन बेकार या अभाव रूप ही समझा जाता है। सम्यग्दर्शन आत्मा का एक अमूर्त गुण है इसलिये ये उसके अंग भी अमूर्त रूप गुण हैं और इसीलिये एक अंग के होने से भी यथासंभव सब अंग प्राप्त हो जाते हैं। तथापि सम्यग्दृष्टी इन समस्त अंगों का पालन करता है।

इनमें पहला अंग निःशंकित अंग है। निःशंकित का अर्थ है किसी प्रकार की शंका न करना अपने देव शास्त्र गुरु में अटल श्रद्धान करना। यद्यपि यह सम्यग्दर्शन अल्पज्ञानियों को और तिर्यंचों को भी होता है और वे अल्पज्ञानी या तिर्यंच सम्यग्दृष्टी जीव तत्त्वों का स्वरूप पूर्ण रूपसे नहीं समझते तथापि उनको थोड़ा ही क्यों न हो आत्म-ज्ञान अवश्य होता है और इसीलिये वे भगवान् जिनेन्द्र देवके कहे हुए वचनों पर अटल श्रद्धान रखते हैं। यद्यपि वे सूक्ष्म तत्त्वों का स्वरूप नहीं समझते तथापि वे यह अवश्य समझते और श्रद्धान रखते हैं कि भगवान जिनेन्द्र देव वीतराग सर्वज्ञ हैं इसलिये वे सूक्ष्म तत्त्वों का स्वरूप भी मिथ्या रूपसे नहीं कह सकते; वे सदाकाल यथार्थ स्वरूप का ही निरूपण करते हैं। अतएव उन्होंने तत्त्वों का जो स्वरूप कहा है वही यथार्थ है—इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है। इस प्रकार वह सम्यग्दृष्टी जीव भगवान जिनेन्द्र देव की आज्ञाको मानकर उनके कहे अनुसार

ही मोक्ष मार्ग में अपनी प्रवृत्ति करता है। यही उसका निःशंकित अंग है।

दूसरे अंगका नाम निःकांक्षित अंग है। निःकांक्षितका अर्थ है किसी प्रकार की इच्छा नहीं करना। सम्यग्दृष्टी पुरुष समझता है कि इस संसार में जीवों को जो कुछ सुख दुःख प्राप्त होता है वह सब पूर्वोपार्जित कर्मोंके उदय से होता है। विना कर्मों के उदय से कुछ नहीं होसकता। यही समझकर वह अनेक प्रकार व्रत उपवास आदि करता हुआ भी उनसे इस लोक या पर लोक संबंधी किसी भी प्रकार की विभूति की या सुख की इच्छा नहीं करता। वह जो कुछ व्रत उपवास करता है वह सब आत्म-कल्याण के लिये, इन्द्रियों को दमन करने के लिये एवं ध्यान स्वाध्याय की सिद्धि के लिये करता है। इस प्रकार वह सम्यग्दृष्टी पुरुष किसी प्रकार की इच्छा या कामना नहीं करता। यही उसका निःकांक्षित अंग है।

तीसरे अंगका नाम निर्विचिकित्सा अंग है। विचिकित्सा का अर्थ ग्लानि करना है, और ग्लानि न करना निर्विचिकित्सा अंग है। संसार में अच्छे बुरे सब प्रकार के पदार्थ हैं। उनसे राग द्वेष करने से उनका स्वभाव कभी नहीं बदलता; वह ज्योंका त्यों रहता है। इसलिये किसी भी अनिष्ट पदार्थ से ग्लानि करना किसी प्रकार भी लाभ दायक नहीं है, प्रत्युत उससे केवल अशुभ कर्मों का बंध होता है। यही समझ कर सम्यग्दृष्टी पुरुष किसी भी पदार्थ से ग्लानि नहीं करता। विशेषकर वह मुनियों के परम पूज्य शरीर में विशेष अनुराग रखता है। यद्यपि किसी समय

मुनियों का शरीर अत्यंत मलिन हो जाता है। गर्मी के दिनों में पसीना आने से और उस पर धूलि मिट्टी जम जाने से उनका शरीर अत्यंत मलिन हो जाता है। ऐसे शरीर को देखकर भी सम्यग्दृष्टि समझता है कि इनका यह शरीर रत्नत्रय से पवित्र है और इसीलिये यह परम पूज्य है। शरीर पौद्गलिक है। वह स्वयं हड्डी, मांस, रुधिर, मज्जा आदि अत्यंत अपवित्र और मलिन पदार्थों से भरा हुआ है। उस मलिनता के सामने यह ऊपरी मलिनता कुछ भी नहीं है। यही समझकर वह सम्यग्दृष्टी पुरुष उन मुनियों के रत्नत्रय रूप आत्म गुणमें अनुराग रखता है और उस मलिनता से कभी ग्लानि नहीं करता। यही उसका निर्विचिकित्सा अंग है। मुनिराज सर्वथा मोह रहित होते हैं और वे अपने शरीर तक से भी कभी मोह नहीं करते। वे उस अपने शरीर को कभी अपना अर्थात् आत्माका नहीं समझते किंतु उसे परकीय पौद्गलिक समझते हैं। इसीलिये वे शरीर की मलिनता की ओर ध्यान न देकर केवल आत्मीय गुणोंका चिंतवन करते हैं। सम्यग्दृष्टी भी उनके इस यथार्थ स्वरूपको समझता है और इसीलिये वह उनके गुणों में अनुराग रखता है उनके मलिन शरीर से कभी ग्लानि नहीं करता।

सम्यग्दर्शन का चौथा अंग अमूढदृष्टि है। मूढदृष्टि न होना अमूढ दृष्टि अंग कहलाता है। मूढ दृष्टि का अर्थ अज्ञानता पूर्वक श्रद्धान या आचरण करना है। मोक्षमार्ग से विपरीत जितने मार्ग हैं वे सब संसार परिभ्रमण के मार्ग हैं और इसीलिये वे मिथ्या-

मार्ग कहलाते हैं। उन मिथ्या मार्गों में न तो स्वयं कभी प्रवृत्त होना और न किसी को प्रवृत्त होने के लिये सम्मति देना अमूढ़ दृष्टि अंग है। जो मनुष्य स्वयं मिथ्यामार्ग में प्रवृत्त होता है वा दूसरों को प्रवृत्त होने के लिये सम्मति देता है वह स्वयं भी अपने आत्मा का अकल्याण करता है और सम्मति देकर अन्य जीवों को भी अकल्याण या पापमय मार्ग में प्रवृत्त कराता है। सम्यग्दृष्टी पुरुष मोक्ष मार्गका यथार्थ स्वरूप समझता है और इसीलिये वह मिथ्या-मार्ग में न कभी प्रवृत्त होता है और न कभी किसी को सम्मति देता है। वह अपने इस सम्यग्दर्शन के अमूढ़दृष्टि अंगको पूर्ण रूप से पालन करता है।

सम्यग्दर्शन का पाचवां अंग उपगूहन अंग है। उपगूहन शब्दका अर्थ छिपाना है। यदि किसी कारण से किसी धर्मात्मा पुरुष की निंदा होती हो तब उसको दूर करना, निंदा न होने देना उपगूहन अंग है। धर्मात्मा की निंदा होने से धर्म की निंदा होती है; इस-लिये धर्म की निंदा दूर करने के लिये धर्मात्मा की निंदा कभी नहीं होने देना चाहिये। यदि उसका वह अपराध सत्य हो तो समझा बुझाकर छुड़वा देना चाहिये। इस पांचवें अंगका नाम उपबृंहण भी है। उपबृंहण शब्दका अर्थ वृद्धि करना है। दोषों को दूरकर आत्मा के गुणों को प्रकट करना—गुणों की वृद्धि करना उपगूहन वा उपबृंहण अंग है। इस अंगके द्वारा दोष दूर होते हैं और गुणों की वृद्धि होती है। इसलिये यह अंग उपगूहन या उप-बृंहण दोनों नामों से कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन के छठे अंग का नाम स्थितिकरण है। स्थिति करणका अर्थ स्थिर करना है। यदि कोई धर्मात्मा पुरुष किसी भी कारण से अपने सम्यग्दर्शन से या अपने सम्यक्चारित्र से चलायमान होता हो तो उसको उसीमें स्थिर कर देना स्थितिकरण अंग है। धर्मात्मा पुरुष अपने दर्शन चारित्र से कभी चलायमान नहीं होते तथा जो किसी विशेष कारण से चलायमान हो जाते हैं वे अपने आत्माका अकल्याण करते हैं। ऐसे पुरुष को समझा बुझा कर या जिस प्रकार बन सके उस प्रकार दर्शन या चारित्र में स्थिर कर देने से उसका भी कल्याण होता है तथा अन्य अनेक जीवों का कल्याण होता है। इसीलिये सम्यग्दर्शन या सम्यक्चारित्र से चलायमान होते हुए जीवों को सम्यग्दर्शन वा सम्यक्चारित्र में स्थिर कर देना सम्यग्दर्शनका छठा अंग कहा जाता है।

सम्यग्दर्शन के सातवें अंगका नाम वात्सल्य है। वात्सल्यका अर्थ अनुराग है। जो जीव धार्मिक होता है वह धर्म से अत्यन्त अनुराग रखता है। धर्म से गाढ अनुराग होने के कारण धर्मात्मा से भी अनुराग रखता है तथा धर्मात्माओं से गाढ अनुराग रखना ही वात्सल्य अंग कहलाता है। धर्मात्मा पुरुष जो धर्मात्माओं से अनुराग रखते हैं उसमें किसी प्रकारका छल कपट नहीं रहता। उनका वह अनुराग किसी स्वार्थ के कारण नहीं होता; किंतु केवल धर्म में अनुराग होने के कारण ही धर्मात्माओं से अनुराग होता है और यही सम्यग्दृष्टी पुरुषका उस सम्यग्दर्शन का सातवां अंग कहलाता है। धर्मात्माओं में अनुराग होने के ही कारण वह

सम्यग्दृष्टी पुरुष उन धर्मात्माओं का यथायोग्य आदर सत्कार करता है। उनके धर्म की प्रशंसा करता है और धर्म के नाते ही उनको श्रेष्ठ मानता है। यह सब सम्यग्दर्शन का सातवां अंग कहलाता है।

सम्यग्दर्शनका आठवां अंग प्रभावना है। प्रभावना का अर्थ प्रभाव प्रकट करना है। इस संसार में अनेक प्रकार का अज्ञान रूपी अंधकार फैला हुआ है। उस अज्ञानता के कारण ये जीव अपने आत्मा का कल्याण नहीं देखते, अपने स्वार्थ वश होकर इन्द्रियों के विषयों की लोलुपता के कारण उसी अज्ञानता में फंसते चले जा रहे हैं और यहां दुःखों के कारणों को उत्पन्न करते चले जा रहे हैं। ऐसे जीवों की उस अज्ञानता को जिस प्रकार बने उस प्रकार दूर कर उसको यथार्थ धर्म-मार्ग में लगाना प्रभावना अंग है। यह प्रभावना अंग अनेक प्रकार से किया जाता है। यथा—यथार्थ मोक्षमार्ग का उपदेश देकर संसारी जीवों को मोक्षमार्ग में लगाना और उनका मिथ्यामार्ग छुड़ाना। यथार्थ तत्त्वों का उपदेश देकर उनका श्रद्धान कराना और अतत्त्व श्रद्धान को दूर करना। भगवान् जिनेन्द्र देव के अनुपम गुणों का प्रचार करना, रथोत्सव, पंच कल्याण महोत्सव, पंचामृताभिषेक आदि धार्मिक कार्यों के द्वारा जिन धर्म वा मोक्षमार्ग का प्रभाव प्रकट करना, स्वाध्यायशाला बनवाना, देव पूजा आदि श्रावकों के षटोकर्मों का प्रचार करना, जिनालय बनवाना प्रतिमाएं बनवाना, उनकी प्रतिष्ठाएँ करना आदि सब प्रभावना के साधन हैं।

धार्मिक ग्रंथों की शिक्षा के लिए विद्यालय खुलवा कर धार्मिक विद्वान् तैयार करना, धार्मिक उपदेशक तैयार करना आदि सब इस प्रभावना अंग के साधन हैं।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अंग हैं। ये आठों ही अंग जब पूर्ण रूप से होते हैं तभी सम्यग्दर्शन पूर्ण माना जाता है। जिस प्रकार किसी मंत्र में से एक अक्षर निकाल दिया जाय तो वह मंत्र अपना फल नहीं दिखला सकता उसी प्रकार किसी एक अंग के कम होने पर भी सम्यग्दर्शन अपना फल नहीं दिखला सकता।

आठ मदों का त्याग–मद शब्द का अर्थ अभिमान है। अपनी किसी विभूति आदि का अभिमान करना मद है, संक्षेप से उसके आठ भेद हैं। कुल का मद–जिस कुल में संतान परंपरा से जो अपने माता पिता के रजोवीर्य की शुद्धता चली आरही है, जिसमें धरेजा नहीं होता, स्त्री–पुनर्विवाह नहीं होता ऐसे अपने पिता के कुल को कुल कहते हैं। उस कुल का अभिमान करना अथवा अपने कुल में कोई राजा सेठ आदि बड़ा आदमी होगया हो उसका अभिमान करना कुल का अभिमान है।

दूसरा जाति का मद है। माता के कुल को जाति कहते हैं उसकी शुद्धता का वड़प्पन का या उसमें होने वाले राजा सेठ आदि का अभिमान करना जाति का अभिमान है। ज्ञान का अभिमान करना ज्ञान का मद है। अपनी पूजा प्रतिष्ठा का अभिमान करना पूजा या प्रतिष्ठा का अभिमान है। अपने बलका अभिमान करना

वज्र का मद है। अपनी ऋद्धि व विभूति का अभिमान करना ऋद्धि का अभिमान है। अपने तप का, उपवास आदि का अभिमान करना तप का मद है। अपने शरीर की सुन्दरता का अभिमान करना शरीर का अभिमान है। इस प्रकार ये आठ मद हैं। सम्यग्दृष्टी इनका अभिमान कभी नहीं करता। वह समझता है कि इस संसार में परिभ्रमण करते हुए मैंने अनंत वार राज्य पाया, अनंत वार प्रचुर ज्ञान पाया, अनंत वार महा विभूतियां प्राप्त हुईं, अनंत वार तपश्चरण किया, अनंत वार सुंदर शरीर और अत्यंत वल प्राप्त किया। ऐसी अवस्थाओं में इस तुच्छ विभूति, बल, शरीर आदि-का अभिमान करना व्यर्थ और हास्य जनक है। मदोन्मत्त जीव अपने आत्मा का स्वरूप भूल जाता है और फिर संसार में परिभ्रमण करने लगता है। यही समझ कर सम्यग्दृष्टी जीव कभी अभिमान या मद नहीं करता। वह तो अपने आत्मा का वा आत्मा के अनुपम गुणों का चिंतवन करता है और समझता है कि इन आत्मीय गुणों के सामने सांसारिक समस्त सामग्री तुच्छ हैं। सांसारिक सामग्री दुःख देने वाली है और आत्मीय गुण मोक्ष सुख देने वाले हैं। यही विचार कर वह समस्त पदों का त्याग कर देता है और आत्मीय गुणों में अनुराग करने लगता है। इस प्रकार इन मदों का त्याग करना सम्यग्दर्शन के आठ गुण हैं।

तीन मूढताओं का त्याग—देव मूढता, गुरुमूढता और लोक मूढता ये तीन मूढताएं कहलाती हैं। इन तीनों मूढताओं का त्याग कर देना सम्यग्दर्शन के तीन गुण हैं।

देव मूढ़ता–मूढ़ता शब्दका अर्थ अज्ञानता है। देवके विषयो में अज्ञानता रखना देव मूढ़ता है। जो सर्वोत्तम पुरुष ध्यान और तपश्चरण के द्वारा अपने घातिया कर्मों को नाश कर लेता है वह जिन कहलाता है। वह जिन या जिनेन्द्र देव कहलाता है। ज्ञानावरण कर्म के नाश होने से वह पूर्ण ज्ञानी या अनंत ज्ञानी–केवलज्ञानी हो जाता है। दर्शनावरण कर्म के नाश होने से वह पूर्णदर्शी या अनंतदर्शन को प्राप्त करने वाला हो जाता है। मोहनीय कर्म के नाश होने से वह भूख प्यास आदि पहले कहे हुए समस्त दोषों से रहित होकर वीतराग हो जाता है और अंतराय कर्म के नाश होने से वह अनंत शक्तिशाली हो जाता है। इस प्रकार जो सर्वोत्तम मनुष्य वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है वह देव पदको प्राप्त हो जाता है। उस समय उनको जिनेन्द्र देव कहते हैं। उस समय इन्द्रादिक तीनों लोकों के इन्द्र, देव, मनुष्य आदि सब उनकी पूजा करते हैं, तथा उनसे कल्याण का मार्ग सुनते हैं। वे तीर्थंकर परम देव अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा भव्य जीवों के लिये मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं। उनका वही उपदेश धर्म कहलाता है तथा उसी उपदेश को सुनकर गणधर देव जिस श्रुत ज्ञान की रचना करते हैं–उनको शास्त्र कहते हैं। यह अत्यन्त संक्षेपसे देव, धर्म और शास्त्र का स्वरूप बतलाया है इसमें जो देवका स्वरूप बतलाया है उनको छोड़ कर जो जीव अन्य किसी को देव मानते हैं वह सब देव मूढ़ता कहलाती है। इस संसार में ऐसे अनेक कल्पित देव माने जाते हैं जो अपने साथ स्त्री भी रखते हैं, शास्त्र भी रखते हैं तथा सांसारिक

मनुष्यों के समान राज्य, भोग, युद्ध, दंड आदि समस्त कार्य करते हैं। ऐसे कल्पित देवोंको मानना देव मूढता है। जो मनुष्य स्वयं राज्य वा भोगों में लगा हुआ है वह सामान्य राजाओं के समान जीवों का पारमार्थिक कल्याण नहीं कर सकता। यह निश्चित सिद्धांत है कि जिस मनुष्यने ध्यान तपश्चरण के द्वारा अपने आत्मा का कल्याण कर लिया है वही पुरुषोत्तम अन्य जीवों का कल्याण कर सकता है, वही मोक्षमार्ग को यथार्थ स्वरूप बता सकता है। जो कल्पित देव स्वयं भोगों में फंसा है वह अन्य जीवों का कल्याण कभी नहीं कर सकता। यही समझकर सम्यग्दृष्टी जीव कल्पित देवों का सर्वथा त्याग कर भगवान् जिनेन्द्र देवको ही देव मानता है उन्हीं की भक्ति पूजा करता है, अन्य किसी भी कल्पित या मिथ्या देवकी पूजा भक्ति नहीं करता। यह देव मूढता का त्याग सम्यग्दर्शनका सत्रहवां गुण कहलाता है।

दूसरी मूढता का नाम गुरु मूढता है। गुरु शब्दका अर्थ यहां पर धर्म गुरु है। धर्मका उपदेश देने वाला धर्म गुरु होता है। धर्म गुरु विषयों की लालसाओं से सर्वथा रहित होता है। सम्यग्दर्शन के प्रभावसे वह आत्मा और संसार का यथार्थ स्वरूप समझकर समस्त पापों, परिग्रहों और समस्त इच्छाओं का त्याग कर देता है। वह दिगम्बर अवस्था धारण कर वन में जाकर तपश्चरण करने में लीन हो जाता है रसोई बनाना, खेती बाड़ी व्यापार आदि किसी प्रकारका आरंभ नहीं करता, तिल तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखता और आत्मज्ञान वा ध्यान में लीन रहता है। इस प्रकार अपने

आत्माका कल्याण करने वाला दिगम्बर वीतराग मुनि ही धर्मगुरु हो सकता है। ऐसे गुरुको छोड़कर शेष जितने भेषधारी जटाधारी, सिर मुंड, वस्त्रधारी, दंडी, त्रिदंडी, आदि गुरु कहलाते हैं वे धर्म गुरु कभी नहीं होसकते। ऐसे कल्पित गुरु अपने आत्मा का भी कल्याण नहीं कर सकते फिर भला वे अन्य जीवों का कल्याण कैसे कर सकते हैं? धर्मगुरु जब तक वीतराग और विषय वासनाओं से रहित नहीं होगा तब तक वह स्वपर कल्याण कभी नहीं कर सकता। यही समझकर सम्यग्दृष्टी पुरुष वीतराग दिगम्बर मुनि को ही गुरु मानता है। इनके सिवाय अन्य भेषधारी गुरुओं की पूजा भक्ति वह कभी नहीं करता। इस प्रकार गुरु मूढ़ताका त्याग कर वीतराग निर्ग्रंथ गुरु में भक्ति करना सम्यग्दर्शनका अठारहवां गुण है।

तीसरी मूढ़ताका नाम लोक मूढ़ता है। अन्य अज्ञानी जीवों की अज्ञानता पूर्ण क्रियाओं को देखकर विना समझे स्वयं करना लोक मूढ़ता है। यह निश्चित सिद्धांत है कि जिनको पूजा या भक्ति हम करते हैं वह पूजा या भक्ति उनके गुणों की प्राप्ति के लिये करते हैं तथा गुण वे ही कहलाते हैं जो आत्मा के कल्याण करने में काम आवें। देवकी पूजा भक्ति हम लोग उनकी वीतरागता और सर्वज्ञता गुणकी प्राप्ति के लिये करते हैं। वीतराग दिगम्बर मुनि की पूजा भक्ति उनकी वीतरागता, निर्मोहता, समस्त लालसाओं का त्याग आदि गुणों के लिये करते हैं। परन्तु जो लोग पत्थरों के ढेरको भी पूजते हैं, बालुओं के ढेर को भी पूजते हैं, नदी समुद्रके

स्नान से आत्माकी पवित्रता मानते हैं, पर्वत से गिरकर मरजाने में मुक्ति मानते हैं या अग्नि में जलकर मरजाने को मुक्ति मानते हैं वह सब लोक मूढ़ता है। क्योंकि इनमें आत्मा का कल्याण करने वाले कोई गुण नहीं हैं। अतएव इनकी भक्ति पूजा करना सब लोक-मूढता है। सम्यग्दृष्टी पुरुष आत्म-गुणों की पूजा करता है और वह उनके गुण अपने आत्मा में प्राप्त करने के लिये करता है। इसलिये वह ऐसी लोक मूढताका सर्वथा त्याग करदेता है। यह सम्यग्दर्शन का उन्नीसवां गुण है।

आगे छह अनायतनों के त्याग को कहते हैं। आयतन शब्दका अर्थ स्थान है। जो धर्म साधन के स्थान होते हैं उनको धर्मायतन कहते हैं तथा जो धर्म के आयतन न हों उनको अनायतन कहते हैं। ऐसे अनायतन छह हैं।

भगवान जिनेन्द्र देवको देव कहते हैं तथा वीतराग सर्वज्ञ ऐसे श्री जिनेन्द्र देवका निरूपण किया हुआ धर्म—धर्म कहलाता है और वीतराग दिगम्बर अवस्था को धारण करने वाले मुनि गुरु कहलाते हैं। ये तीनों ही धर्म के आयतन हैं, धर्म के साधन हैं। जिनेन्द्र देव और दिगम्बर मुनियों की पूजा भक्ति करने से उनके गुणों में अनुराग बढ़ता है और धर्मका पालन करने से आत्माका कल्याण होता है। इसलिये ये तीनों ही धर्म के स्थान या धर्मायतन हैं। इसी प्रकार जो जीव इन तीनों को मानते हैं; इन्हीं की पूजा भक्ति करते हैं वे भी धर्म के स्थान या धर्मायतन कहलाते हैं। क्योंकि वे देव धर्म गुरु की पूजा भक्ति कर स्वयं अपने आत्माका कल्याण

करते हैं। तथा ऐसे जीव अन्य जीवों को भी कल्याण मार्ग में लगाते हैं। इसीलिये देव, धर्म, गुरु और इन तीनों को माननेवाले धर्मायतन कहलाते हैं। सम्यग्दृष्टी पुरुष इन्हीं को धर्मायतन मानता है। इनके सिवाय अन्य समस्त देवोंको, अन्य समस्त धर्मोंको, अन्य समस्त भेषी गुरुओं को तथा इनको मानने वालों को धर्मायतन कभी नहीं मानता। वह इन सबको धर्मका अनायतन मानता है। वह समझता है कि श्री जिनेन्द्र देव के सिवाय अन्य समस्त देव संसार मार्ग की पुष्टि करने वाले हैं; क्योंकि वे स्वयं हम लोगों के समान संसारी हैं। इसी प्रकार भगवान् जिनेन्द्र देवके द्वारा निरूपण किये हुए रत्नत्रय रूप धर्म या अहिंसा रूप धर्म के सिवाय अन्य जितने धर्म हैं वे सब हिंसा-स्वरूप होने से पाप मार्ग के बढ़ाने वाले हैं। वीतराग निर्ग्रंथ (परिग्रह रहित) गुरुके सिवाय अन्य सब भेषधारी संसार में डुबोने वाले हैं तथा इसी प्रकार उनके मानने वाले इन्हीं के समान पाप मार्ग को बढ़ाने वाले और संसार में डुबाने वाले हैं। यही समझकर वह सम्यग्दृष्टी पुरुष इन छहों अनायतनों का सर्वथा त्याग कर देता है। और फिर जिनेन्द्र देव, उनका कहा हुआ धर्म और वीतराग निर्ग्रंथ गुरुकी ही पूजा भक्ति करता है तथा उनको मानने वालों में धार्मिक अनुराग रखता है। ये ही छह सम्यग्दर्शन के गुण कहलाते हैं।

इस प्रकार आठों अंगों का पालन करना, आठों मदोंका त्याग करना, तीन मूढताओं का त्याग करना और छहों अनायतनों का त्याग करना, ये पच्चीस सम्यग्दर्शन के गुण कहलाते हैं। इनके

विपरीत पच्चीस दोष कहलाते हैं। आठों अंगों का पालन न करना, आठों प्रकार के मद धारण करना, तीनों मूढताएं करना और छहों अनायतन पालना, ये पच्चीस दोष कहलाते हैं। इन दोषों के रहते हुए सम्यग्दर्शन कभी नहीं रह सकता।

इन दोषों के सिवाय सम्यग्दर्शन के पांच अतिचार कहलाते हैं। अतिचार शब्दका अर्थ मल उत्पन्न करना है। ये पांचों अतिचार सम्यग्दर्शन को मलिन करते रहते हैं। इसलिये इनका त्याग करने से ही सम्यग्दर्शन निर्मल रह सकता है। ये पांचों अतिचार इस प्रकार हैं:-पहला अतिचार शंका करना है। भगवान् जिनेन्द्र देवने अनेक सूक्ष्म पदार्थों का भी निरूपण किया है; उनमें किसी प्रकार की शंका करना-'ये सूक्ष्म पदार्थ हैं या नहीं, यथार्थ हैं या नहीं' इस प्रकार शंका करना भगवान् में भी शंका करना है। इसलिये ऐसी शंका करना सम्यग्दर्शन में मलिनता ला देती है। दूसरा अतिचार कांक्षा है। किसी पदार्थ की इच्छा रखना-चाहना कांक्षा कहलाती है। धर्म-सेवन आत्म-कल्याण के लिये किया जाता है। उस धर्मको सेवन करते हुए किसी लौकिक पदार्थकी इच्छा करना उस आत्म-कल्याणका घात करना है। इसलिये यह कांक्षा या आकांक्षा सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाला अतिचार या दोष कहलाता है।

सम्यग्दर्शनका तीसरा अतिचार-विचिकित्सा है। विचिकित्सा का स्वरूप पहले दिखला चुके हैं। मुनियों के मलिन शरीर को देख-कर यदि कोई मनुष्य ग्लानि करता है तो समझना चाहिये कि वह उनके गुणों में अनुराग नहीं रखता। उन मुनियों के मुख्य गुण

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही हैं। इसलिये सम्यग्दर्शनादिक गुणों में अनुराग न होने से सम्यग्दर्शन कभी नहीं टिक सकता और इसीलिये यह विचिकित्सा सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाला अतिचार कहलाता है।

चौथा अतिचार–अन्यदृष्टि–प्रशसा है। अपने मन से अन्य मतकी या अन्यमतको धारण करने वालों की प्रशंसा करना अन्य-दृष्टि प्रशंसा है। विना अनुराग के प्रशंसा कभी नहीं हो सकती। जब वह अन्य मत की प्रशंसा करता है तो समझना चाहिये कि वह अन्य मत से अवश्य अनुराग रखता है और जब वह अन्य मत से अनुराग रखता है तो भगवान् जिनेन्द्र देवमें वा उनके कहे हुए धर्म में उसका अनुराग या श्रद्धान कभी नहीं कहा जासकता। इसीलिये यह अन्यदृष्टि प्रशंसा सम्यग्दर्शनको मलिन करने वाला अतिचार है। सम्यग्दर्शनका पांचवां अतिचार–अन्यदृष्टि संस्तव है। संस्तव का अर्थ स्तुति या वचन से प्रशंसा करना है। जिस प्रकार मनके द्वारा अन्य धर्म की प्रशंसा करने में दोप आता है उसी प्रकार वचन से प्रशंसा करने में भी सम्यग्दर्शन में दोप लगता है। इसलिये यह भी सम्यग्दर्शन को मलिन करने व.ला सम्यग्दर्शन का अतिचार है। इस प्रकार ये पांचों अतिचार सम्यग्दर्शन को मलिन करने वाले हैं; इसलिये इनका त्याग करना ही सम्यग्दर्शन को निर्मल करना है और आत्माका कल्याण करना है।

इस प्रकार सम्यग्दर्शन को धारण करनेवाला सम्यग्दृष्टी पुरुष समस्त दोपों को छोड कर निर्मल सम्यग्दर्शन धारण करता हुआ

सातों व्यसनों का भी त्याग कर देता है। वे सात व्यसन इस प्रकार हैं-(१) जूआ खेलना, (२) मांस भक्षण करना, (३) मद्यपान करना, (४) वेश्यां सेवन करना, (५) शिकार खेलना, (६) चोरी करना, और (७) परस्त्री सेवन करना। ये सात व्यसन कहलाते हैं। सातों ही व्यसन महा निंद्य हैं, अनेक प्रकार के महा दुःख देने वाले हैं और संसार सागर में डुबाने वाले हैं। यही समझ कर सम्यग्दृष्टी पुरुष इन सातों व्यसनों का सर्वथा त्याग कर देता है।

सम्यग्दर्शन के प्रकट हो जाने पर सम्यग्दृष्टी पुरुष कभी किसी से भय नहीं करता। न तो वह इस लोक संबंधी किसी प्रकारका भय करता है, न परलोक संबंधी किसी प्रकारका भय करता है, न किसी वेदना या दुःख का भय करता है न मरणका भय करता है, न असंयम होने का भय करता है, न अपनी अरक्षा का भय करता है और न कभी अकस्मात् आने वाली आपत्तियों का भय करता है। वह समझता है कि ये सब आपत्तियां कर्मोंके उदयसे होती हैं। और कर्मों का उदय अनिवार्य है। वह किसी के द्वारा किसी प्रकार भी नहीं रुक सकता। इस प्रकार कर्मोंका स्वरूप चिंतवन करता हुआ तथा अपने आत्मा के गुणों में अनुराग रखता हुआ सम्यग्दृष्टी पुरुष कभी किसी से किसी प्रकार का भय नहीं करता।

इस ऊपरके कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्यग्दर्शन के प्रकट होने से सम्यग्दृष्टी पुरुष सांसारिक समस्त कार्यों से उदास

हो जाता है, अपने आत्मा के शुद्ध गुणों में अनुराग करने लगता है, उन गुणों को प्रकट करने का प्रयत्न करता रहता है और इस प्रकार वह मोक्ष मार्ग में लग जाता है। ऐसा पुरुष दो चार आठ भव में ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

सम्यग्दर्शन के प्रकट होने पर सम्यग्दृष्टी आत्मा समस्त पापों से डरता रहता है। अशुभ कर्मोंका बंध करने वाले पाप या संक्लेश परिणाम कभी नहीं करता; क्रोधादिक कषाय भी उसके अत्यंत मंद हो जाते हैं। इसीलिये वह मरकर न तो नरकमें जा सकता है और न तिर्यंच गति में जा सकता है। देवों में भी भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवों में उत्पन्न नहीं होता। वैमानिक उत्तम देवों में ही उत्पन्न होता है। यदि मनुष्य योनि में उत्पन्न होता है तो भी स्त्री व नपुंसक नहीं होता, नीच कुल में उत्पन्न नहीं होता, विकृत शरीर धारण नहीं करता और न अल्प आयुवाला होता है। सम्यग्दृष्टी पुरुष उत्तम देव या उत्तम कुलीन मनुष्य ही होता है तथा मनुष्य पर्याय में सम्यक् चारित्र धारणकर इन्द्र चक्रवर्ती आदिके उत्तम सुखों का अनुभव करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

यहां पर हम सम्यग्दर्शन के मुख्य भेद और बतला देना चाहते हैं। यों तो इस सम्यग्दर्शन के अनेक भेद हैं तथापि मुख्यतया तीन भेद कहलाते हैं। एक उपशम सम्यग्दर्शन, दूसरा क्षायिक सम्यग्दर्शन और तीसरा क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन। पहले कह चुके हैं कि आत्मा के इस सम्यग्दर्शन रूप गुणको आवरण करने वाली

मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व और अनंत नु बंधी क्रोध मान माया लोभ ये सात प्रकृतियां हैं। इन सातों प्रकृतियों के उपशम होने से उपशम सम्यग्दर्शन होता है। यद्यपि यह सम्यग्दर्शन निर्मल होता है तथापि वे सातों प्रकृतियां आत्मा में विद्यमान रहती हैं-नष्ट नहीं होती, केवल शांत होजाती हैं, उदयमें नहीं आती हैं। परंतु सम्यग्दर्शन के प्रकट होने के अनंतर अंतर्मुहूर्त्त बाद ही उदयमें आजाती हैं। इसलिये इसका काल अंतर्मुहूर्त्त ही है। जब ऊपर लिखी सातों प्रकृतियां सर्वथा नष्ट हो जाती हैं तब वह प्रकट होने वाला सम्यग्दर्शन अत्यंत निर्मल होता है। घात करने वाली प्रकृतियों के नष्ट हो जाने से फिर उस सम्यग्दर्शनमें किसी प्रकार दोष नहीं हो सकता। ऐसे निर्मल सम्यग्दर्शन को क्षायिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन क्षायिक सम्यग्दर्शन रूप आत्मा का गुण प्रकट होने पर फिर कभी नष्ट नहीं होता; अनंतानंत काल तक बना रहता है। जिस समय मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनंतानुबंधी प्रकृतियों का उदया-भावी (उदय में न आना) क्षय होता है तथा सत्तावस्थित उन्हीं सर्व घाती छह प्रकृतियों का उपशम होता है और सम्यक् प्रकृति मिथ्यात्व नामकी देशघाती प्रकृति का उदय होता है उस समय क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। इसमें देशघाती प्रकृति का उदय होता है। इसलिये यह सम्यग्दर्शन अत्यंत निर्मल नहीं होता। किंतु इसमें चल, मलिन, अगाढ दोष उत्पन्न होते रहते हैं। तथापि वह छूटता नहीं है। छयासठ सागर तक रहता है।

उपशम सम्यग्दृष्टी और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टी दोनों ही क्षायिक सम्यग्दर्शन प्राप्त कर मोक्ष जाते हैं।

५-सम्यग्ज्ञान

जिसके द्वारा पदार्थ जाने जाते हैं अथवा जो पदार्थों को जानता है अथवा पदार्थोंका जो जानना है उसको ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान आत्माका निज स्वभाव है और इसीलिये शुद्ध आत्मासे उत्पन्न हुआ ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाता है। तथा वही पदार्थों के यथार्थ स्वरूपको जानता है परंतु जिस प्रकार स्फटिक पाषाण सफेद होने पर भी उसके पीछे जपा का लाल फूल रख दिया जाय तो वह सफेद पाषाण भी लाल दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के संसर्ग से वह ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान हो जाता है। ज्ञानका काम जानना है परंतु उसको सम्यक् या मिथ्या कर देना सम्यग्दर्शन या मिथ्यादर्शन का काम है। इसका भी कारण यह है कि इस जीवकी जैसी श्रद्धा होती है वैसा ही ज्ञान हो जाता है। यदि वह श्रद्धा सम्यक् है तो उसका ज्ञान भी सम्यक् है और यदि श्रद्धा मिथ्या है तो उसका ज्ञान भी मिथ्या है। जिस रस्सी में सर्प की श्रद्धा हो जाती है उस रस्सी का ज्ञान सर्प रूप ही परिणत हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप के श्रद्धान के बिना जितना भी ज्ञान है वह सब मिथ्या ज्ञान कहलाता है; फिर चाहे वह ज्ञान कितना ही ऊंचे दर्जे का क्यों न हो?

वर्तमान समय में जितना भी विज्ञान है या भौतिक पदार्थोंका ज्ञान है वह सब आत्मा के यथार्थ स्वरूप के श्रद्धान से रहित है;

इसलिये वह ज्ञान न तो सम्यग्ज्ञान है और न उससे आत्माका यथार्थ कल्याण होता है। आत्माका कल्याण तो उसी ज्ञान से हो सकता है जिसमें कि आत्मा का श्रद्धान शामिल है।

उस सम्यग्ज्ञान के चार भेद हैं-(१) प्रथमानुयोग, (२) करणानुयोग, (३) चरणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग। तीर्थंकर, चक्रवर्ती आदि महापुरुषों के जीवन चरित्र को कहने वाला ज्ञान या पुण्य-पाप के स्वरूपको कहने वाला ज्ञान प्रथमानुयोग कहलाता है। लोक, अलोक, ऊर्द्धलोक, मध्यलोक, अधोलोक और उनमें होने वाली नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि गतियों को निरूपण करने वाला ज्ञान करणानुयोग कहलाता है। मुनियों के आचरणों को या मुनियों के व्रतों को तथा श्रावकों के आचरण या व्रतोंको निरूपण करने वाला ज्ञान चरणानुयोग कहलाता है। तत्त्वों के स्वरूपको, पदार्थों के स्वरूपको और द्रव्यों के स्वरूपको निरूपण करने वाला ज्ञान द्रव्यानुयोग कहलाता है। इन्हीं चारों ज्ञानों को चार वेद कहते हैं।

अथवा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान और केवलज्ञान इस प्रकार ज्ञानके पांच भेद हैं। आगे इनका थोडासा स्वरूप बतलाते हैं।

जो ज्ञान पांचों इन्द्रियों से तथा मनसे उत्पन्न होता है उसको मतिज्ञान कहते हैं। विचार करना, स्मरण करना, पहले देखे हुए किसी पदार्थको दुबारा देखकर "यह वही है या वैसा ही है" इस

प्रकार का ज्ञान होना, जहां जहां धूंआ रहता है वहां वहां अग्नि अवश्य रहती है-इस प्रकार विचार करना और धूंआ देखकर अग्निको जान लेना आदि सब मतिज्ञान है।

इस मतिज्ञान के चार भेद हैं। अवग्रह, ईहा, आवाय और धारणा। यह मतिज्ञान दर्शन पूर्वक होता है। सबसे पहले किसी भी इन्द्रिय से पदार्थका दर्शन होता है। फिर यह अमुक पदार्थ है; ऐसा ज्ञान होता है। ऐसे ज्ञानको अवग्रह कहते हैं। इसके अनंतर उस पदार्थ को विशेष जानने की इच्छा होती है-इसको ईहा ज्ञान कहते हैं। तदनंतर उसका निश्चय हो जाता है-यह मनुष्य ही है। इस प्रकार के ज्ञान को आवाय कहते हैं तथा उसको कालांतर में भी स्मरण रखना-भूलना नहीं इसको धारणा कहते हैं। ये चारों प्रकार के ज्ञान पांचों इन्द्रियों से तथा मन से होते हैं। इसलिये इसके चौवीस भेद हो जाते हैं। तथा यह चौवीस प्रकारका ज्ञान वहुत पदार्थोंका होता है, अनेक प्रकारके पदार्थोंका होता है, एक पदार्थका भी होता है, एक प्रकार के पदार्थों का भी होता है, शीघ्र भी होता है, देर से भी होता है, प्रकट पदार्थका भी होता है, अप्रकट पदार्थ का भी होता है, किसी के कहने पर भी होता है, विना कहे, कहने से पहले अनुमान से हो जाता है, निश्चित पदार्थों का भी होता है और अनिश्चित रूप पदार्थोंका भी होता है। इस प्रकार वारह प्रकार के पदार्थोंका होता है। इसलिये इस मतिज्ञान के दोसौ अठासी भेद हो जाते हैं। यह सब व्यक्त पदार्थोंका ज्ञान होता है।

इसके सिवाय अव्यक्त पदार्थों का भी ज्ञान होता है। जैसे किसी ने किसी को चार बार बुलाया; परंतु उसने सुना नहीं। पांचवीं बार सुना और फिर वह विचार करने लगा-यह शब्द सुनाई तो पड़ा था। इस प्रकार वह उसका पहले का चार बारका बुलाना अव्यक्त है। ऐसा यह अव्यक्त पदार्थ का ज्ञान चक्षु और मनको छोड़कर केवल चार इन्द्रियों से उत्पन्न होता है तथा ऐसा यह अव्यक्त पदार्थका ज्ञान केवल अवग्रह रूप ही होता है। ईहा आवाय धारणा रूप नहीं होता। इसका भी कारण यह है कि स्पर्शन रसना घ्राण और श्रोत्र ये चार इन्द्रियां तो पदार्थों को स्पर्शकर जानती हैं इसलिये उनसे जो ज्ञान होता है वह व्यक्त भी होता है और अव्यक्त भी होता है; परंतु चक्षु और मन ये दोनों इन्द्रियां पदार्थ से स्पर्श नहीं करतीं। इसलिये इनसे जो ज्ञान होता है वह व्यक्त ही होता है। अतएव अव्यक्त पदार्थका ज्ञान चक्षु और मनसे नहीं होता। तथा अव्यक्त पदार्थका ज्ञान अवग्रह रूप ही होता है और पहले लिखे अनुसार बारह प्रकारके पदार्थोंका होता है। ऐसे ज्ञान को व्यंजनावग्रह कहते हैं। ऐसे इस व्यंजनावग्रह के अडतालीस भेद हो जाते हैं। दोसौ अठासी और अडतालीस मिलकर मति ज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद हो जाते हैं। यह मतिज्ञान इन्द्रियों से उत्पन्न होता है इसलिये परोक्ष कहलाता है। यद्यपि व्यवहार में इसको प्रत्यक्ष कहते हैं तथापि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है और यह मतिज्ञान आत्मा से न होकर इन्द्रियों के द्वारा होता है, इसलिये यह परोक्ष है।

इन्द्रियों के द्वारा जाने हुए पदार्थ को मन के द्वारा विशेष रीति से जानना श्रुतज्ञान है। अर्थात् भगवान् जिनेन्द्र देवने जो कुछ मोक्ष मार्गको या तत्त्वों का उपदेश दिया है-उसीको गणधर देवोंने रचनात्मक बनाकर प्रकट किया है वही श्रुतज्ञान कहलाता है।

इस श्रुतज्ञानके बारह भेद हैं जो बारह अंग कहलाते हैं। अत्यंत संक्षेपसे इनका स्वरूप इस प्रकार है।

१-आचारांग—यह श्रुतज्ञानका पहला अंग है इसमें मुनियों की चर्याका वर्णन है। गुप्ति समिति शुद्धियों आदि का वर्णन है।

२-सूत्रकृतांग—ज्ञानविनय, छेदोपस्थापना, व्यवहार, धर्म, क्रिया का वर्णन है।

३-स्थानांग—अनेक स्थानों में रहने वाले पदार्थों का वर्णन है।

४-समवायांग—इसमें द्रव्य क्षेत्र काल भावों का समवाय बताया है। तथा धर्म, अधर्म, लोक, एक जीव इनके समान प्रदेश हैं। जंबूद्वीप, सर्वार्थसिद्धि अप्रतिष्ठान नरक, नन्दीश्वर द्वीपकी बावडियां समान हैं। उत्सर्पिणी अवसर्पिणी का काल समान है। क्षायिक सम्यक्त्व, केवलज्ञान, केवलदर्शन, यथाख्यात चारित्र के भाव समान हैं।

५-व्याख्याप्रज्ञप्ति—साठ हजार व्याकरण तथा अस्ति नास्ति का वर्णन है।

६-ज्ञातृधर्मकथा—अनेक प्रकार की कथाओं का वर्णन है।

७-उपासकाध्ययन— श्रावकों की क्रिया व्रत आदि का वर्णन है।

८-अंतकृद्दश—प्रत्येक तीर्थंकरके समय में दश दश मुनि घोर उपसर्ग सहनकर मोक्ष पधारे उनका वर्णन है।

९-अनुत्तरोपपादिक दश—प्रत्येक तीर्थंकर के समय में दश दश मुनि घोर उपसर्ग सहनकर विजयादिक में उत्पन्न हुए उनका वर्णन है।

१०-प्रश्न व्याकरण - आक्षेप विक्षेप, हेतु, नय, इनके आश्रित होने वाले प्रश्नों का व्याकरण बतलाया है।

११-विपाक सूत्र पुण्य पापका उदय बतलाया है।

१२-दृष्टिवाद—अनेक मत मतान्तरों का तथा तीनसौ तिरेसठ मिथ्यामतों का वर्णन है।

इस बारहवें अंगके पांच भेद हैं परिकर्म सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत, चूलिका। इसमें से पूर्वगतके चौदह भेद हैं। यथा—

१-उत्पाद पूर्व—इसमें काल पुद्गल जीवादिक द्रव्यों की पर्यायों का वर्णन है।

२-अग्रायणी—क्रियावादियों की प्रक्रियाका वर्णन है।

३-वीर्य-प्रवाद—छद्मस्थ, केवली, इन्द्र, चक्रवर्ती आदिके बलका वर्णन है।

४-अस्तिनास्तिप्रवाद—इसमें समस्त पदार्थों का अस्तित्व नास्तित्व आदि अनेक अंगोंका निरूपण है।

५-ज्ञानप्रवाद—इसमें ज्ञान अज्ञान के विषयों का वर्णन है।

६-सत्यवाद—इसमें अनेक भाषाओं का तथा दश प्रकार के सत्यों का वर्णन है।

७-आत्मवाद—इसमें आत्माके अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व आदिका वर्णन है।

८-कर्मप्रवाद—इसमें कर्मों के बंध, उदय उपशम आदिका वर्णन है।

९-प्रत्याख्याननामधेय—व्रत, नियम, प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, तप आदिकी विराधना आराधना शुद्धि आदिका वर्णन है।

१०-विद्यानुवाद—समस्त विद्या महानिमित्त विद्या आदि का वर्णन है।

११-कल्याण नामधेय—इसमें सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र आदि की गतियों का वर्णन है।

१२-प्राणावाय—इसमें अनेक औषधियों का वर्णन है।

१३-क्रियविशाल—इसमें पुरुषों की बहत्तर कला और स्त्रियों की चौसठ कलाओं का वर्णन है।

१४-लोकबिंदुसार—इसमें आठ प्रकारके व्यवहार, चार प्रकार के बीज आदिका वर्णन है।

इस प्रकार बारह अंगों का वर्णन सब श्रतज्ञान कहलाता है। यह श्रुतज्ञान भी मनसे उत्पन्न होता है इसलिये यह भी परोक्ष है। इस प्रकार मतिज्ञान और श्रतज्ञान दोनों ही ज्ञान परोक्ष हैं।

अवधिज्ञान—केवल आत्माके द्वारा जो मूर्त्त पदार्थोंका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है उसको अवधिज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान संख्यात असंख्यात योजन स्थित सूक्ष्म स्थूल पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है। यह ज्ञान देव नारकियों के जन्म से ही होता है और शेष जीवोंको कर्मों के क्षयोपशम से होता है। कर्मों के क्षयोपशम से होने वाला अवधिज्ञान-कोई तो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तक साथ जाता है या परलोकमें भी साथ जाता है। तथा कोई अवधि ज्ञान वहीं रह जाता है। कोई अवधिज्ञान बढ़ता रहता है, कोई घटता रहता है। तथा कोई अवधि ज्ञान उतना ही रहता है और कोई घटता बढ़ता रहता है। इस प्रकार अवधि ज्ञानके छह भेद हैं। इनके सिवाय देशावधि, सर्वावधि, परमावधि ये तीन भेद हैं। ऊपर लिखे छह भेद देशावधि के हैं।

मनःपर्ययज्ञान—यह ज्ञान भी केवल आत्मा के द्वारा मूर्त्त पदार्थों को प्रत्यक्ष जानता है। दूसरे के मनमें जो पदार्थ चिंतवन किये जा रहे हैं उनको यह ज्ञान पूछे, बिना पूछे बतला देता है। अवधिज्ञान इस प्रकार नहीं बता सकता। पूर्ण अवधिज्ञान सूक्ष्म से सूक्ष्म जिस पदार्थ को जानता है उसके यदि अनंत भाग किये जायं-उनमें से एक भाग को भी मनःपर्यय ज्ञान जान लेता है।

अवधिज्ञान और मनःपर्यय ज्ञान ये दोनों ज्ञान एक देश प्रत्यक्ष हैं।

केवलज्ञान—केवल आत्माके द्वारा समस्त पदार्थ और प्रत्येक पदार्थ की अनतानंत पर्यायों को जो एक साथ प्रत्यक्ष जानता है उसको केवल ज्ञान कहते हैं। केवल ज्ञान होने पर यह जीव सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हो जाता है तथा वही जिन वा जिनेन्द्र देव कहलाता है।

ये पांचों ही ज्ञान सम्यग्दृष्टी के ही होते हैं, इसीलिये ये पांचों ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाते हैं। मिथ्यादृष्टी के मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान और अवधिज्ञान भी होता है परंतु वह सब मिथ्याज्ञान कहलाता है। मिथ्याज्ञान संसारका कारण होता है।

६—सम्यक् चारित्र

राग द्वेष दूर करने के लिये समस्त पापों का त्याग कर देना सम्यक् चारित्र है। अथवा पापों के दूर करने के लिये या पापों से बचने के लिये जो जो आचरण किये जाते हैं—उन सबको चारित्र कहते हैं। इस संसार में जितने पाप होते हैं वे सब राग द्वेष के कारण ही से होते हैं। जब राग द्वेष छूट जाते हैं तब पाप अपने आप छूट जाते हैं। अतएव राग द्वेष को दूर करना सबसे मुख्य कर्तव्य है। राग द्वेष को या मोहको दूर किये बिना चारित्र कभी नहीं हो सकता। वास्तव में देखा जाय तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित सम्यक्-चारित्र ही साक्षात् मोक्षका कारण है।

विना सम्यक्चारित्र के कभी किसी को मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव मोक्ष प्राप्त करने के लिये सम्यक् चारित्र को धारण करना प्रत्येक भव्य जीवका कर्त्तव्य है। भगवान् जिनेन्द्र ने सम्यक् चारित्र को ही धर्म बतलाया है। इसका भी कारण यह है कि सम्यक् चारित्र के साथ साथ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य होते हैं। विना सम्यग्दर्शन के न तो सम्यग्ज्ञान हो सकता है और न सम्यक् चारित्र हो सकता है। इसीलिये सम्यक्चारित्र साक्षात् मोक्ष का कारण है।

इस सम्यक्चारित्र के मुख्य दो भेद हैं—एक सकल चारित्र और दूसरा विकल या एकदेश चारित्र। मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से समस्त पापोंका त्याग कर देना पूर्ण चारित्र या सकल चारित्र है। तथा मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना की संख्यामें से किसी भी कम संख्यासे पांचों पापोंका त्याग करना एक देश चारित्र है।

आगे अत्यंत संक्षेपसे सकल चारित्र का निरूपण करते हैं। इस सकल चारित्र को उत्तम मुनि साधु ही पालन कर सकते हैं। इसका भी कारण यह है कि जब यह मनुष्य संसारके दुःखों से भयभीत हो जाता है और राग द्वेष मोहका त्यागकर देता है तभी यह मनुष्य गृहस्थ अवस्था का त्याग कर मुनि हो जाता है। गृहस्थ अवस्थामें कितने ही यत्नाचार से क्रियाओं का पालन किया जाय तथापि थोडे बहुत पाप अवश्य लग जाते हैं। अतएव समस्त पापों का त्याग मुनि अवस्था में ही होता है।

स्थानों में समस्त प्रकार के सूक्ष्म स्थूल जीवों का स्वरूप जान लेना अत्यावश्यक है। क्योंकि जीवों का स्वरूप जाने बिना जीवों की रक्षा ही कैसे हो सकती है ? इस प्रकार समस्त जीवों की हिंसा का सर्वथा त्याग कर देना अहिंसा महाव्रत है।

सत्यमहाव्रत—मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से सब प्रकारके असत्य वचनों का त्याग कर देना सत्य महाव्रत है। सत्य महाव्रती कठोर निंद्य, अप्रिय, गर्हित आदि वचन कभी नहीं कहता है। वह सदा जीवों के हित करने वाले परिमित वचन कहता है।

अचौर्यमहाव्रत—मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से समस्त प्रकार की चोरी का त्याग कर देना और तृण, मिट्टी आदि भी बिना दिये नहीं लेना अचौर्य महाव्रत है।

ब्रह्मचर्यमहाव्रत—मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से समस्त स्त्रियों को माता, बहिन, पुत्री आदिके समान मानकर समस्त प्रकार के अब्रह्मका त्याग कर देना पूर्ण ब्रह्मचर्यका पालन करना, ब्रह्मचर्य महाव्रत है।

परिग्रह त्याग महाव्रत—चौदह प्रकार के अंतरंग परिग्रह और दश प्रकार के बाह्य परिग्रहों को मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से सर्वथा त्याग कर देना परिग्रह त्याग महाव्रत है।

गुप्ति

इन महाव्रतों की रक्षा करने के लिये मुनि लोग तीन गुप्तियों का पालन करते हैं। गुप्तियां तीन हैं—मनोगुप्ति, वचन गुप्ति, काय गुप्ति। मनको वशमें करना मनसे किसी प्रकारकी क्रिया न होने देना, एकाग्रचित्त होकर मनको-आत्म चिंतवन में लगाना मनोगुप्ति है। वचनको वशमें रखना, वचन से किसी प्रकार-की क्रिया न होने देना वचन गुप्ति है। इसी प्रकार कायको वशमें रखना, कायसे किसी प्रकार की क्रिया न होने देना काय गुप्ति है। कर्मों का आस्रव इन मन वचन कायसे ही होता है। यदि मन वचन काय तीनों वशमें हो जांय, इनसे कोई क्रिया न हो तो फिर किसी भी प्रकार के कर्मोंका आस्रव नहीं हो सकता। इस प्रकार गुप्तियों का पालन करने से महाव्रतों की पूर्ण रक्षा होती है।

समिति

ऊपर जिन गुप्तियों का स्वरूप लिखा गया है उनका पालन प्रत्येक समय में नहीं हो सकता; इसलिये जिस समय इनका पालन नहीं हो सकता उस समय मुनि लोग समितियों का पालन करते हैं। समितियां पांच हैं। ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदाननिक्षेपण समिति और उत्सर्ग समिति।

ईर्या समिति—जिस समय मुनि आहार के लिये गमन करते हैं या तीर्थ यात्रा आदि के लिये गमन करते हैं उस समय सामने

की चार हाथ भूमि देखकर गमन करते हैं। यदि सामने कोई जीव आजाता है तो उससे बचकर निकलते हैं। इस प्रकार गमन करते समय भी किसी जीवका घात नहीं होता। इसीको ईर्या समिति कहते हैं। इससे भी अहिंसा महाव्रतका पूर्ण रूप से पालन होता है।

भाषासमिति—जिस समय मुनि वचन गुप्ति का पालन नहीं करते, सदुपदेश देते हैं या तत्त्व चर्चा करते हैं उस समय भी वे जीवोंका हित करने वाले और परिमित वचन बोलते हैं। बिना आवश्यकता के मुनिराज कभी नहीं बोलते। यदि बोलते हैं तो जीवों का हित करने वाले वचन ही कहते हैं, मोक्ष मार्ग की चर्चा करते हैं अथवा मोक्ष मार्गका ही उपदेश देते हैं। इसके सिवाय वे मौन धारण करते हैं। इस प्रकार हित मित रूप वचन कहने को भाषा समिति कहते हैं।

एषणासमिति—मुनि लोग भिक्षा भोजन करते हैं। भिक्षा भी किसी से मांगते नहीं किंतु देव वंदना आदि से निवृत्त होकर भोजन के समय चर्या के लिये पीछी कमंडलु लेकर तथा मौन धारण कर अपने स्थान से निकलते हैं और जहां भव्य गृहस्थों के घर होते हैं उधर गमन करते हैं। उस समय उन मुनि महाराजको प्रतिग्रह करने के लिये श्रावक जन नहा धोकर, धोती दुपट्टा पहन कर अपने अपने द्वार पर खड़े रहते हैं। गमन करते हुए वे मुनि जब अपने सामने आजाते हैं तब वे श्रावक उनको नमस्कार कर

प्रार्थना करते हैं कि–महाराज यहां ही ठहरिये, आहार पानी शुद्ध है। यदि उन मुनि के कोई विशेष प्रतिज्ञा नहीं हुई या प्रतिज्ञा की पूर्त्ति हो गई तो वे ठहर जाते हैं। तब वह श्रावक उनकी तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार करता है और फिर प्रार्थना करता है कि महाराज घर में चलिये। इस प्रकार कहकर वह श्रावक आगे चलता है और वे मुनि उसके पीछे चले जाते हैं। वहां जाकर वह श्रावक उनको किसी ऊंचे स्थान पर (पाटा चौकी या कुरसी पर) विराजमान होने के लिये प्रार्थना करता है। ऊंचे स्थान पर बैठ जाने के अनंतर वह श्रावक उनके चरण–कमल धोता है और उस पादोदकको. पादप्रक्षालन के जलको अपने मस्तक पर लगाता है। तदनंतर वह श्रावक उन मुनिराजकी जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन आठों द्रव्यों से या इनके बने हुए अर्घ्य से पूजा करता है। फिर वह श्रावक उन मुनिराज से प्रार्थना करता है कि हे भगवान्! मेरा मन शुद्ध है, वचन शुद्ध है काय शुद्ध है तथा भोजन पान भी सब शुद्ध है। आप भोजन शाला में पधारिये। तब वे मुनिराज भोजन शाला में या चौकामें जाते हैं। वहां पर एक पाटा रक्खा रहता है उस पर खडे हो जाते हैं। मुनिराज खडे होकर ही आहार लेते हैं। इसका भी अभिप्राय यह है कि जब तक इस शरीर में खड़े होने की शक्ति है तब तक ही आहार लेते हैं। यदि खडे होने की शक्ति न रहे तो आहारका त्यागकर समाधि धारण कर लेते हैं। मुनिराज किसी पात्र में भोजन नहीं करते किंतु करपात्र में ही भो. न करते हैं। श्रावक एक

एक ग्रास हाथ पर रखता जाता है और वे मुनि उसे, देख शोधकर ग्रहण कर लेते हैं। यदि मध्य में कोई अंतराय आजाता है या और कोई दोष आजाय तो वे आहारका त्याग कर देते हैं। इस प्रकार बत्तीस अंतराय और छयालीस दोष टालकर मुनि आहार करते हैं तथा दिन में एक बार ही ग्रहण करते हैं। इस शरीर से तपश्चरण करने के लिये और तपश्चरण के लिये शरीर को टिकाने के लिये आहार आवश्यक है। इसीलिये वे आहार ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार भ्रमर फूलों से सुगंध ले जाता है परंतु फूलको दुःख नहीं पहुंचाता उसी प्रकार वे मुनिराज आहार ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार गाडीको चलाने के लिये तेल से ओंगते हैं उसी प्रकार शरीर को स्थिर रखने के लिये आहार ग्रहण करते हैं अथवा इस उदर रूपी गढेको भरने के लिये नीरस भोजन ग्रहण कर लेते हैं। अथवा उदर रूपी अग्निको शांत करने के लिये और आत्म-गुणों की रक्षा के लिये आहार ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार गाय चारा डालने वाले की वेप भूषा या सुन्दरता को नहीं देखती उसी प्रकार मुनि भी आहार ग्रहण करते समय किसी को नहीं देखते। इस प्रकार शुद्धता पूर्वक आहार ग्रहण करना एषणा समिति है। मुनि राज एक ही बार भोजन पान करते हैं फिर दुबारा पानी भी नहीं पीते। कमंडलु में जो जल ले जाते हैं वह गर्म किया हुआ ले जाते हैं और वह शौच आदि शुद्धि के ही काम आता है।

आदाननिक्षेपणसमिति—मुनिराज जब कभी शास्त्र या कमंडलु उठावेंगे या रखेंगे तो उसे देखकर तथा पीछी से शोधकर ही

उठावेंगे या रक्खेंगे जिससे कि किसी जीवकी विराधना न हो जाय। इस प्रकार देख शोधकर उठाने रखने को आदान निक्षेपण समिति कहते हैं।

उत्सर्गसमिति—मुनिराज जब मल मूत्र करने को बैठते हैं तब उस भूमि को देखकर जीव जंतु रहित स्थान में ही बैठते हैं और फिर भी पीछी से उसको शुद्ध कर लेते हैं तब मल मूत्र करते हैं। इस प्रकार जीव जन्तु रहित भूमि को देख, शोधकर मल मूत्र करना उत्सर्ग समिति है। इस प्रकार संक्षेप से पांच समितियों का स्वरूप है। इन समितियों के पालन करने से किसी जीवको बाधा नहीं होती और इस प्रकार अहिंसा महाव्रत का पूर्ण रीति से पालन होता है।

धर्म

आत्माके स्वभाव को धर्म कहते हैं। जो आत्मा का स्वभाव होता है वही इस जीवको स्वर्ग मोक्ष के उत्तम स्थान में पहुँचा सकता है। ऐसे धर्म दश हैं उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव उत्तम आर्जव, उत्तम शौच उत्तम सत्य, उत्तम संयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य और उत्तम ब्रह्मचर्य।

उत्तम क्षमा—क्रोध उत्पन्न होने के कारण उपस्थित होने पर भी अपने हृदय में किसी प्रकार का संक्लेश उत्पन्न नहीं होने देना, क्रोध उत्पन्न नहीं होने देना क्षमा है। यदि वही क्षमा सम्यग्दर्शन सहित हो तो वह उत्तम क्षमा कहलाती है। मुनिराज चर्या को गमन

करते हैं उस समय अनेक दुष्ट लोग उनसे दुर्वचन कहते हैं या मारते पीटते हैं अथवा प्राण तक लेनेको तत्पर रहते हैं फिर भी वे मुनिराज चिंतवन करते हैं—कि ये पुरुष मेरे शरीर को कष्ट देते हैं, आत्माके धर्मका विघात नहीं करते तथा अपने पाप कर्म बांधते हुए भी मेरे कर्मोंकी निजरा करते हैं। यही समझकर वे उत्तम क्षमा धारण करते हैं।

उत्तम मार्दव—कुल जाति विद्या ऋद्धि आदि के रहते हुए भी अभिमान नहीं करना उत्तम मार्दव है। इस धर्म के होने से गुरु का अनुग्रह रहता है, साधु पुरुष उत्तम समझते हैं, इसी गुण से सम्यग्ज्ञानका पात्र होता है और स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करता है। अभिमान करने से व्रत शील नष्ट हो जाते हैं और साधु लोग उसको छोड देते हैं तथा वह अनेक आपत्तियों का पात्र होता है।

उत्तम आर्जव—मन वचन काय की क्रियाओं को सरल रखना. मायाचार का सर्वथा त्याग कर देना आर्जव है। सरल हृदय में अनेक गुण आजाते हैं, सरल हृदयवालों को उत्तम गति प्राप्त होती है, सब लोग उनको मानते हैं और विश्वास करते हैं। यही समझकर उत्तम आर्जव गुण धारण किया जाता है।

उत्तम शौच—लोभका सर्वथा त्याग कर देना उत्तम शौच है। लोभी पुरुष के समस्त गुण नष्ट हो जाते हैं। लोभी पुरुषों को इस लोक में अनेक आपत्तियां प्राप्त होती हैं तथा परलोक में भी निंद्य गति प्राप्त होती है। यही समझकर मुनि राज उत्तम शौचको

धारणकर आत्माको पवित्र करते हैं। इस शौचके अनेक भेद हैं-जैसे अपने या पर के जीवनका लोभ न करना, आरोग्य का लोभ न करना, इन्द्रियों का लोभ न करना और उपभोग आदिका लोभ न करना।

उत्तम सत्य—सज्जन पुरुषों के लिये श्रेष्ठ वचन कहना सत्य है अथवा झूठ बोलने का सर्वथा त्याग कर देना सत्य है। झूठ बोलने वालेको कुटुम्बी लोग भी तिरस्कार की दृष्टिसे देखते हैं, मित्र छोड़ देते हैं तथा जिह्वाच्छेदन आदि अनेक प्रकारके दुःख उन्हें भोगने पड़ते हैं।

उत्तम संयम—इन्द्रियोंका दमन करना तथा प्राणियों की रक्षा करना संयम है। इसके दो भेद हैं—उपेक्षा संयम और अपहृत संयम। राग द्वेषका सर्वथा त्याग करना उपेक्षा संयम है और जीवों की रक्षा करना अपहृत संयम है। अथवा इन्द्रियों के विषयों में राग नहीं करना इन्द्रिय संयम है और प्राणियों की रक्षा करना प्राणिसंयम है। इस संसार में संयम ही आत्माका हित करने वाला है, संयम से ही मनुष्य पूज्य गिना जाता है तथा परलोक में भी उत्तम गति प्राप्त होती है। असंयमी जीव सदा पाप का उपार्जन करते रहते हैं। यही समझकर मुनिराज उत्तम संयम धारण करते हैं।

उत्तम तप—कर्मोंका नाश करने के लिये तपश्चरण करना तप है। तपश्चरण करने से समस्त पदार्थों की सिद्धि होती है। तपश्चरण

करने से ही अनेक ऋद्धियां प्राप्त होती हैं। तपस्वी लोग जहां जहां विहार करते हैं वह तीर्थ कहलाता है। जो तपश्चरण नहीं करता उसमें कोई गुण नहीं ठहर सकते और न उसका संसार ही छूट सकता है! यही समझकर मुनिराज सदाकाल तपश्चरण में लगे रहते हैं।

उत्तम त्याग—समस्त प्रकार के परिग्रहों का त्याग करदेना उत्तम त्याग है। परिग्रहों के त्याग कर देने से ही आत्मा का वास्तविक हित होता है तथा समस्त आपत्तियां दूर हो जाती हैं। जिस प्रकार पानी से समुद्र कभी तृप्त नहीं होता उसी प्रकार अधिक से अधिक परिग्रह होने पर भी यह मनुष्य कभी तृप्त नहीं होता। यही समझकर मुनिराज समस्त परिग्रहोंका त्यागकर त्याग धर्मको स्वीकार करते हैं।

उत्तम आकिंचन्य—यह मेरा है या मैं इसका हूं—इस प्रकारके ममत्वका सर्वथा त्यागकर देना, यहां तककि शरीर से भी ममत्वका सर्वथा त्याग कर देना आकिंचन्य है। शरीर से ममत्व करने वाला पुरुष सदा काल संसार में परिभ्रमण करता है तथा जो शरीर से ममत्वका सर्वथा त्याग कर देता है वह अवश्य ही मोक्षको प्राप्त होता है। यही समझकर मुनिराज तिल तुष मात्र भी परिग्रह नहीं रखते और शरीर से भी ममत्वका त्यागकर परम आकिंचन्य व्रत धारण करते हैं।

उत्तम ब्रह्मचर्य—स्त्री मात्रकी आसक्ति का त्यागकर अपने शुद्ध आत्मा में लीन रहना ब्रह्मचर्य है। अथवा स्वतंत्रता पूर्वक धर्म

सेवन करने के लिये गुरु कुल में निवास करना ब्रह्मचर्य है जो पुरुष पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है उसके हिंसा आदि कोई भी दोष नहीं लगता है तथा अनेक गुण रूप संपदाएं प्राप्त होती हैं। जो पुरुष ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करता वह सदा काल पापों से लिप्त बना रहता है तथा वह सदा प्राण नाश की ओर दौड़ता रहता है। यही समझकर मुनिराज सदाकाल पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं।

इस प्रकार इन धर्मोंको पालन करने से आते हुए कर्म रुक जाते हैं और संचित कर्मोंका नाश होता है। ये दशधर्म गुप्ति समितियों के पालन करने में भी सहायक होते हैं और आगे कही जाने वाली अनुप्रेक्षाओं के चिंतवन करने में भी सहायक होते हैं।

अनुप्रेक्षा

बार बार चिंतवन करने को अनुप्रेक्षा कहते हैं। ऐसी अनुप्रेक्षा बारह हैं। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म। इस प्रकार इन बारह तत्त्वोंका यथा योग्य नाम के अनुसार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है।

अनित्यानुप्रेक्षा—इस संसार में जितने शरीर, इन्द्रिय, विषय, भोग आदि पदार्थ हैं वे सब पानी के बुदबुदा के समान शीघ्र नाश होने वाले अनित्य हैं। सदा रहने वाले नित्य पदार्थ इस संसारमें कुछ भी नहीं हैं। यदि नित्य है तो आत्मा के ज्ञान दर्शन रूप

उपयोग ही नित्य है। यही समझकर मुनिराज सदाकाल अनित्या-नुप्रेक्षाका चिंतवन करते रहते हैं।

अशरणानुप्रेक्षा—इस संसार में शरणभूत पदार्थ दो प्रकारके हैं—एक लौकिक शरण और दूसरे लोकोत्तर शरण। लौकिक शरण के तीन भेद—जीव, अजीव, मिश्र हैं। राजा देवतादि जीव शरण हैं, दुर्ग या किलादि अजीव शरण हैं, गांव नगर आदि मिश्र शरण हैं। पंच परमेष्ठी लोकोत्तर जीव शरण हैं, उनकी प्रतिमाएं अजीव शरण हैं और धार्मिक उपकरण सहित साधु समुदाय मिश्र जीव शरण हैं। जिस प्रकार सिंह के मुख में आये हुए हरिण के बच्चे को कोई शरण नहीं है उसी प्रकार संसार में इस जीवको कोई शरण नहीं है। मरण के समय कोई किसी को नहीं बचा सकता। धर्म ही आत्मा को विपत्तियों से बचा सकता है। इस प्रकार मुनिराज सदा काल चिंतवन करते रहते हैं तथा संसार से विरक्त होकर मोक्ष मार्ग में लगे रहते हैं।

संसारानुप्रेक्षा—एक शरीर को छोडकर दूसरा शरीर धारण करना—चारों गतियों में परिभ्रमण करना-संसार है। इसके पांच भेद हैं—द्रव्य परिवर्त्तन, क्षेत्रपरिवर्त्तन, कालपरिवर्त्तन, भवपरि-वर्त्तन और भावपरिवर्त्तन।

द्रव्य-परिवर्त्तन—किसी जीवने किसी एक समय में जो कर्म रूप पुद्गल ग्रहण किये उसमें जितने रूप, रस, गंध, स्पर्श थे उतने ही रूप, रस, गंध स्पर्श को लिये उतने ही वैसे ही पुद्गल परमाणु

तब कभी वही जीव ग्रहण करता है, तथा जो मध्यमें गृहीत, अगृहीत, मिश्र पुद्गल परमाणु अनंतवार ग्रहण किये थे वे गिनती में नहीं आते; इसी प्रकार समस्त कर्म वर्गणा दुबारा ग्रहण कर ली जाय तब एक कर्म द्रव्य परिवर्त्तन होता है। इसमें अनंत काल लग जाता है। इसी प्रकार नो कर्म वर्गणाओंका भी ग्रहण होता है। इसको नो कर्म द्रव्य परिवर्त्तन कहते हैं।

क्षेत्रपरिवर्त्तन—कोई सूक्ष्म निगोदिया अपर्याप्तक जीव सर्व जघन्य अवगाहना को लेकर लोक के मध्यके आठ प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य के आठ प्रदेशों में लेकर उत्पन्न हो। मर कर संसार में परिभ्रमण कर फिर उसी रूपसे जन्म ले। इस प्रकार वह असंख्यात वार इसी प्रकार जन्म ले। फिर एक प्रदेश अधिक बढाकर जन्म ले। इस प्रकार समस्त लोकाकाश में जन्म लेकर लोकाकाश के क्षेत्रको पूर्ण करे। मध्य में अनंत वार दूसरे स्थान में जन्म लेकर जो काल व्यतीत करता है वह इसमें नहीं गिना जाता है। इसमें अनंतानंत काल व्यतीत होता है।

कालपरिवर्त्तन—कोई जीव उत्सर्पिणी काल के पहले समय में उत्पन्न हुआ। फिर परिभ्रमण कर दूसरे तीसरे उत्सर्पिणी काल के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ। फिर अनंत कालतक परिभ्रमण कर किसी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ। इस प्रकार अनुक्रम से उत्सर्पिणी काल के समस्त समय तथा अवसर्पिणी काल के समस्त समय जन्म लेकर पूर्ण करे। इसी प्रकार मरणकर समस्त समय पूर्ण करे। तब एक काल परिवर्त्तन होता है।

भवपरिवर्त्तन—कोई जीव पहले नरक में दशहजार वर्ष को आयु पाकर जन्म ले। फिर ससार में परिभ्रमणकर दुबारा उतनी ही आयु पाकर वहीं जन्म ले। इस प्रकार दशहजार वर्ष के जितने समय होते हैं उतनी ही वार वहीं उतनी ही आयु पाकर जन्म ले। फिर एक समय अधिक दशहजार वर्षको आयु पाकर जन्म ले इसी क्रम से एक एक समय अधिक की आयु पाकर जन्म लेता हुआ नरक के तेतीस सागर पूर्ण करे। फिर तिर्यंच गति, मनुष्य गति और देव गति की समस्त आयु इसी प्रकार एक एक समय बढ़ाता हुआ पूर्ण करे। इस प्रकार चारों गतियोंका परिभ्रमण पूर्ण करने पर एक भव परिवर्त्तन होता है।

भावपरिवर्त्तन—भाव शब्दका अर्थ परिणाम है जिनसे कर्म बंध होता है। कर्मों की स्थिति के लिये कषायाध्यवसाय स्थान कारण हैं। कषायाध्यवसाय स्थान के लिये अनुभागाध्यवसाय स्थान कारण हैं और अनुभागाध्यवसाय स्थान के लिये योग स्थान कारण हैं। जघन्य स्थिति के लिये जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान हो कारण हैं। जघन्य कषायाध्यवसाय स्थान के लिये जघन्य ही अनुभागाध्यवसाय स्थान कारण हैं और जघन्य अनुभागाध्यवसाय स्थान के लिये जघन्य ही योगस्थान कारण हैं। किसी जीव के जघन्य योग स्थान हुए, फिर अन्य अनेक योग स्थान होकर फिर जघन्य योगस्थान हुए। इस प्रकार असंख्यात योग स्थान हों तब एक अनुभागाध्यवसाय स्थान होता है। ऊपरके अनुसार ही फिर असंख्यात जघन्य योगस्थान हों तब दूसरा यौग अनुभागाध्यवसाय

स्थान होता है। इस प्रकार असंख्यात अनुभागाध्यवसाय स्थान हों। तब एक कषायाध्यवसाय स्थान होता है। फिर असंख्यात जघन्य योगस्थान से एक जघन्य अनुभागाध्यवसाय स्थान हो फिर असंख्यात जघन्य योगस्थान से दूसरा अनुभागाध्यवसाय स्थान हो। इस प्रकार असंख्यात अनुभागाध्यवसाय स्थान हों तब एक कषाय स्थान होता है। इसी प्रकार अनुक्रम से असंख्यात जघन्य कषाय स्थान हो तब एक जघन्य स्थिति स्थान होता है। फिर एक समय अधिक स्थिति के लिये वही क्रम चलता है। फिर दो समय के लिये वही क्रम चलता है। इस प्रकार उस कर्म की एक एक समय अधिक करके उत्कृष्ट स्थिति पूर्ण हो। फिर जघन्य स्थिति से लेकर उत्कृष्ट स्थिति तक अनुक्रम से समस्त कर्मों की स्थिति पूर्ण हो तब एक भाव परिवर्त्तन होता है। द्रव्य परिवर्त्तन से क्षेत्र परिवर्त्तन का काल अनंत गुणा है, उससे काल परिवर्त्तन का काल अनंत गुणा है उससे भव परिवर्त्तन का काल अनंतत्त गुणा है और उससे भाव परिवर्त्तन का काल अनंत गुणा है। ये पांचों परिवर्त्तन पूर्ण होने पर एक परिवर्त्तन गिना जाता है। संसारी जीवों ने ऐसे अनंत परिवर्त्तन पूर्ण किये हैं।

इन पांचों परिवर्त्तनों के स्वरूपको चितवन करना संसारानुप्रेक्षा है। इसका चितवन करने से संसार से वैराग्य उत्पन्न होता है और मोक्षमार्ग में अनुराग होता है। इसीलिये मुनिराज सदा इसका चितवन करते हैं।

एकत्वानुप्रेक्षा—इस संसार में यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है। जन्म मरण आदि के समस्त दुख अकेला ही भोगता है, इसमें कोई सहायक नहीं होता। केवल धर्म ही सहायक होता है तथा धर्म ही आत्मा के साथ नित्य रूप से रहता है। ऐसा चिंतवन करना एकत्वानुप्रेक्षा है। इसका चिंतवन करने से किसी से भी राग द्वेष नहीं होता और इस प्रकार वे मुनिराज राग द्वेप छोडकर मोक्ष मार्ग में लग जाते हैं।

अन्यत्वानुप्रेक्षा—संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब मेरे आत्मा से भिन्न हैं, यहां तक कि यह शरीर भी आत्मा से भिन्न है। शरीर पुद्गल या जड है, आत्मा चेतन स्वरूप है। शरीर ज्ञान रहित है, आत्मा ज्ञान सहित है। शरीर इन्द्रिय गोचर है, आत्मा अतीन्द्रिय है। शरीर अनित्य है, आत्मा नित्य है। इस एक ही आत्माने अबतक अनंत शरीर धारण किये हैं। इस प्रकार आत्मा से शरीर को भिन्न चिंतवन करना अन्यत्वानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करने से शरीर से ममत्व छूट जाता है और वह आत्मा मोक्ष मार्ग में लग जाता है।

अशुचित्वानुप्रेक्षा—इस संसार में लोकोत्तर शुद्धता कर्ममल कलंक से रहित अपने आत्मा में है, उसका साधन रत्नत्रय है, उसके आधारभूत मुनिराज हैं और उनके अधिष्ठान निर्वाण भूमियां हैं। लौकिक शुद्धि काल, अग्नि, भस्म, मिट्टी, गोमय, जल, ज्ञान और विचिकित्सा है। परंतु यह शरीर इतना अशुद्ध है कि इन शुद्धियों से भी शुद्ध नहीं होता है। यह शरीर शुक्र शोणित से

बना है। इसमें हड्डी, मांस, रुधिर, मज्जा, विष्ठा आदि अनेक अशुद्ध पदार्थ भरे हुए हैं। इसकी शुद्धिका एक मात्र कारण रत्नत्रय हैं। इस प्रकार चिंतवन करना अशुचित्वानुप्रेक्षा है। इसका चिंतवन करने से शरीर से ममत्व छूट जाता है और रत्नत्रय में अनुराग बढ जाता है।

आस्रवानुप्रेक्षा—कर्म के आस्रव के दोषों का चिंतवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। जिस प्रकार समुद्र में अनेक नदियों का पानी आता है उसी प्रकार इन्द्रियों के द्वारा कर्मोंका आस्रव होता है। स्पर्शनेन्द्रियके वशीभूत होकर हाथी, वध-बंधन-ताडन आदिके अनेक दुःख भोगता है रसना इन्द्रिय के वशीभूत होकर मछली अपना कंठ छिदाती है, घ्राण इन्द्रियके कारण भ्रमर कमलमें दबकर मर जाता है, चक्षुइन्द्रिय के वशीभूत होकर पतंग दीपक में जल मरता है और श्रोत्रेन्द्रिय के वशीभूत होकर हिरण पकडा या मारा जाता है। इस प्रकार इन्द्रियों के विषय अनेक दुखों को उत्पन्न करने वाले और परलोक में निंद्यगति को प्राप्त करने वाले हैं। इस प्रकार चिंतवन करना आस्रवानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करने से मुनिराज इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर आत्म-धर्म में लग जाते हैं।

संवरानुप्रेक्षा—आस्रवको न होने देना संवर है, संवरके गुणों का चिंतवन करना संवरानुप्रेक्षा है। संवर के होने से कल्याण मार्ग में या मोक्ष मार्ग में कभी रुकावट नहीं होती। इस प्रकार चिंतवन करना संवरानुप्रेक्षा है।

निर्जरानुप्रेक्षा—एक देश कर्मों के क्षय होने को निर्जरा कहते हैं। वह दो प्रकार की है-एक सविपाक निर्जरा और दूसरी अविपाक निर्जरा। प्रत्येक संसारी जीव के कर्म अपना फल देकर जो प्रत्येक समय में खिरते रहते हैं वह सविपाक निर्जरा है और तपश्चरण के द्वारा जो कर्म खिरते हैं, नष्ट होते हैं वह अविपाक निर्जरा है। सविपाक निर्जरा से आत्मा का कोई कल्याण नहीं होता प्रत्युत नवीन कर्मोंका बंध होता रहता है। अविपाक निर्जरा आत्म-कल्याण का कारण है। इस प्रकार चिंतवन करना निर्जरानुप्रेक्षा है। इसका चिंतवन करने से मुनिराज अपने आत्म-कल्याण में लगे रहते हैं।

लोकानुप्रेक्षा—लोकका चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा है। अथवा इस लोक में भरे हुए जीवोंका उनके दुःखों का वा अन्य पदार्थों का चिंतवन करना लोकानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करने से वे मुनिराज संसार परिभ्रमण से भयभीत होकर तपश्चरण में दृढ हो जाते हैं।

बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा—इस संसार में अनंतानंत निगोदराशि भरी हुई है। एक निगोदिया जीवके शरीर में अनंतानंत जीव भरे हुए हैं। ऐसे निगोद से यह लोक घी के घडे के समान भरा हुआ है। उनमें से निकलना समुद्र में गिरी हुई मणि के समान दुर्लभ है। यदि कोई जीव निकल भी आवे तो असंख्यात दो इन्द्रिय, असंख्यात तेइन्द्रिय, असंख्यात चौइन्द्रिय, असंख्यात असैनी पंचेन्द्रिय और असंख्यात सैनी पंचेन्द्रियों में परिभ्रमण करता

हुआ उत्तम कुल उत्तम जाति में उत्पन्न होना अत्यंत दुर्लभ है। फिर अच्छी आयु पाना, स्वस्थ शरीर होना और फिर धर्म की प्राप्ति होना अत्यंत दुर्लभ है। यदि उत्तम मनुष्य होने पर भी धर्म की प्राप्ति न हो तो सब व्यर्थ है। धर्म की प्राप्ति होने पर भी समाधिमरण प्राप्त होने पर ही सबकी सफलता होती है। इस प्रकार चिंतवन करना बोधिदुर्लभानुप्रेक्षा है। मुनिराज इसका चिंतवन करते हुए अपने कल्याण मार्ग में प्रमाद कभी नहीं करते हैं।

धर्मानुप्रेक्षा—गुणस्थान तथा मार्गणा स्थानों में अपने आत्मा के स्वभावका वा धर्मका चिंतवन करना धर्मानुप्रेक्षा है। इसके चिंतवन करने से मुनिराज अपने आत्म-कल्याण के लिये ही प्रयत्न करते हैं।

परीषह—जय

जो किसी मनुष्य, तिर्यंच या देव के द्वारा दुःख दिया जाता है उसको उपसर्ग कहते हैं तथा जो अन्य किसी निमित्त से दुःख आजाता है उसको परीषह कहते हैं। उन परीषहों को सहन करना—जीतना परीषह जय है। ऐसी परीषह बाईस हैं और वे इस प्रकार हैं। क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कारपुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन।

इनके सिवाय और भी जितनी परीषह हों वे सब इन्हीं में अंतर्भूत होती हैं। आगे बहुत संक्षेपसे इनका स्वरूप बतलाते हैं।

क्षुधा—मुनिराज अनेक देशों में विहार करते हैं। इसमें मार्ग का भी परिश्रम होता है तथा उद्दिष्ट रहित आहार लेते हैं, इसलिये आहारका लाभ होता भी है और नहीं भी होता है। आहार लाभ न होने पर भी तथा अत्यंत तीव्र क्षुधा लगने पर भी वे मुनिराज न तो कभी उसका चिंतवन करते हैं और न आवश्यक कार्यों में से किसी कार्य को छोडते हैं। वे नरकों की क्षुधा का चिंतवन करते हैं और धैर्य पूर्वक क्षुधा परीषह को सहन करते हैं।

पिपासा—गर्मी के दिन हो, नमक आदिका विरुद्ध आहार मिला हो; इससे प्यास अधिक बढ गई हो तथा रोग के कारण प्यास बढगई हो तथापि वे मुनिराज धैर्य पूर्वक उस तीव्र प्यासको भी सहन करते हैं। आहार के समय प्रासुक जल मिलने पर ही ग्रहण करते हैं और वहां पर उसके लिये कुछ संकेत नहीं करते हैं। इस प्रकार प्यासका सहना दूसरी परीषह का जीतना है।

शीत—जाड़े के दिनों में भी मुनिराज किसी नदी के किनारे वा किसी मैदान में तपश्चरण करते हैं। उस समय कडाके की ठंड पडती है। अत्यंत शीत वायु चलती है। तथापि वे मुनिराज उसकी कठिन बाधा को सहन करते हैं। उस समय भी नरक की शीत वेदनाओंका चिंतवन करते हैं और उसको निवारण करने का कभी प्रयत्न नहीं करते। यह शीत परीषह जय है।

उष्ण—गर्मी के दिनों में भी मुनिराज पर्वत के ऊपर तपश्चरण करते हैं, जहां सूर्य की धूप अत्यंत उग्र होती है और नीचे से पत्थर भी गर्म होता है। गर्म लू चलती है जिसमें वृक्षतक सूख जाते हैं, नदियां व सरोवर भी सूख जाते हैं। ऐसी गर्मी में भी मुनिराज निश्चल ध्यान लगाकर विराजमान बने रहते हैं। वे न कभी स्नान करते हैं और न शरीर पर पानी डालकर गर्मी की बाधा दूर करते हैं। इस प्रकार गर्मी की बाधाको सहन करना उष्ण परीषह जय है।

दंशमशक—दंश मशक का अर्थ डांस मच्छर हैं। डांस मच्छर कहने से बर्र, ततैया, बिच्छू आदि सब लिये जाते हैं। वे मुनिराज नग्न रहते हैं। डांस मच्छर ततैया आदि काटते हैं परन्तु वे मुनिराज शरीर से निस्पृह होकर उन सबका दुःख सहन करते हैं; उनको निवारण करने का कभी प्रयत्न नहीं करते और न करने देते हैं। इस प्रकार का बाधा सहन करना दंशमशक परीषह जय है।

नाग्न्य—वे मुनिराज परम दिगंबर अवस्था धारण करते हैं। सदा काल गुप्ति समितियों के पालन करने में लगे रहते हैं। स्त्रियों के स्वरूपको अत्यंत निंद्य चिंतवन करते हैं। तथा दिगम्बर अवस्थाको ही परम कल्याण करने वाला समझते हैं। इस प्रकार पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करते हुए नग्न रूप धारण करना नाग्न्य परीषह जय है।

अरति—वे मुनिराज इन्द्रिय सुखों को विष मिले आहार के समान समझते हुए सदा काल संयम में ही अनुराग रखते हैं;

क्षुधा, प्यास, इन्द्रिय विजय, वन विहार आदि अरति के कारण उपस्थित होने पर भी धीरता पूर्वक उन बाधाओं को सहन करते हैं। वे किसी से किसी प्रकार का द्वेष नहीं करते और न उन बाधाओं के कारण मन में मलिनता लाते हैं। इस प्रकार अरति को जीतना अरति परीषह विजय है।

स्त्री—वे मुनिराज एकांतमें विराजमान रहते हैं। उस समय अनेक दुष्ट स्त्रियां आकर हाव भाव विलास के द्वारा विकार उत्पन्न करने की चेष्टा करती हैं परंतु वे मुनिराज कछुए के समान अपनी इन्द्रियों को संकुचित कर लेते हैं तथा उनको देखने तक की कभी इच्छा नहीं करते। इस प्रकार स्त्रियों के द्वारा किये हुए उपद्रवों को सहन करना स्त्री परीषह जय है।

चर्या—वे मुनिराज अनेक वर्ष तक गुरु के समीप रहकर समस्त तत्त्वों को वा आत्म-तत्त्वको समझलेते हैं और गुरुकी आज्ञानुसार तीर्थ गमन आदि के लिये विहार करते हुए भयानक वनों में कंकरीली पथरीली भूमि में होकर ईर्या समिति पूर्वक चलते हैं। वे अपनी चर्या में कभी किसी प्रकारका दोष नहीं लगाते। इस प्रकार निर्दोष रूप से चर्या करना—उसमें किसी प्रकार का खेद न मानना चर्या परीषह जय है।

निषद्या—वे मुनिराज पहले कभी न देखी हुई गुफाओं में सूने खंडहर में श्मशान में या अन्य ऐसे ही स्थानों में विराजमान होकर ध्यान धारण करते हैं। वहां पर अनेक वनचर पशु, पक्षियों

के उपद्रव होने पर भी अपने आसन से कभी चलायमान नहीं होते। वहां पर भी वे प्राणियों की रक्षा करने में तत्पर रहते हुए ज्ञान ध्यान में लीन रहते हैं और इस प्रकार निषद्या परं षह-विजय प्राप्त करते हैं।

शय्या—वे मुनिराज रात्रि में बहुत थोडी देर तक शयन करते हैं तथा पथरीली कंकरीली जैसी भूमि होती है उसी पर किसी एक करवट से सोते हैं। जीवों की बाधा के डरसे करवट नहीं बदलते तथा भयानक जंतुओं के डरसे कभी भयभीत नहीं होते। जहां शयन किया है वहां से किसी भी कारण से शीघ्र उठजाने का प्रयत्न नहीं करते। उस समय व्यंतर आदि के द्वारा कोई उप-द्रव होने पर भी धीरता पूर्वक वहीं पर रात्रि व्यतीत करते हैं। इस प्रकार शय्या की बाधा सहन करना शय्या परीषह जय है।

आक्रोश—मुनिराज आहार के लिये गांव या नगर में आते हैं उनको देखकर अनेक दुष्ट लोग उनसे दुर्वचन कहते हैं। मर्म-च्छेदक वचन कहते हैं; तथापि वे मुनिराज उन वचनों को सुनते हुए भी अपने ही अशुभ कर्मों के उदयका चिंतवन करते हैं। यद्यपि उन मुनियों में ऋद्धियां प्राप्त होने के कारण उन दुष्टों को भस्म तक करने की सामर्थ्य होती है तथापि वे मुनिराज शांति पूर्वक उनको सहन करते हैं। इस प्रकार अनिष्ट वचनों का सहन करना आक्रोश-परीषह जय है।

वध—अनेक दुष्ट लोग मुनियों को मारते हैं. बांधते हैं, जला देते हैं तथा उनके प्राण नाश तक कर देते है तथापि वे मुनिराज

अपने ही अशुभ कर्मों के उदयका चिंतवन करते हैं। वे समझते हैं कि ये प्राणी मुझे मार कर अपने अशुभ कर्मोंका बंध करते हैं और मेरे अशुभ कर्मोंकी निर्जरा करते हैं। तथा शरीर को ही दुःख पहुँचाते हैं या शरीरका वियोग करते हैं परंतु मेरे धर्मका नाश नहीं करते। इस प्रकार उत्तम क्षमा धारण कर वे मुनिराज वध परीषह को सहन करते हैं।

याचना—वे मुनिराज चाहे जितने दिन के उपवासी हों, कैसे ही रोगी हों, कितनी ही दूर से आये हों, उनका शरीर चाहे जितना निर्बल, कृश होगया हो, हड्डी स्नायु निकल आई हो, नेत्र बैठ गये हों और चर्या करते हुए भी आहारादिक न मिला हो तथापि वे मुनिराज आहार, औषधि या वसतिका आदिकी कभी याचना नहीं करते, न संकेत से कुछ सूचित करते हैं। वे कभी भी मांगने की दीनता धारण नहीं करते। इस प्रकार दीनता का भाव धारण न करना याचना परीषह विजय है।

अलाभ—वे मुनिराज वायु के समान सर्वत्र विहार करते हैं। वे कभी किसी से याचना नहीं करते, न मांगने के लिये कुछ संकेत करते हैं। कहीं कहीं पर उनको कई दिन तक आहारादिक प्राप्त नहीं होता है तथापि वे मुनिराज अपने मन में किसी प्रकारका खेद नहीं करते। इस अलाभ को वे परम उपवास और तपश्चरण का कारण समझते हैं। इस प्रकार वे अलाभ परीषह का विजय प्राप्त करते हैं।

रोग—शरीर में अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होने पर भी वे मुनिराज उनके दूर करनेका कोई प्रयत्न नहीं करते। वे शरीर को ही आत्मा से भिन्न, पौद्गलिक जड समझते हैं। यद्यपि अनेक ऋद्धियां उत्पन्न होने के कारण वे उन रोगों को क्षणभर में दूर कर सकते हैं तथापि उन रोगों को दूर करने की वे कभी इच्छा नहीं करते। वे उन रोगों को अशुभ कर्मों का उदय समझ कर शांत परिणामों से सहन करते हैं और इस प्रकार वे रोग परीषह को जीतते हैं।

तृणस्पर्श—वे मुनि प्रासुक भूमि देखकर बैठते हैं या शयन करते हैं। फिर वह भूमि कैसी ही कंकरीली हो ,या प्रासुक ,घास तृण की बनी हो। उस घास तृणमें कांटे छिदते हैं, उनसे खुजली भी हो जाती है तथापि वे मुनिराज उसमें किसी प्रकारका दुःख नहीं मानते और इस प्रकार तृण स्पर्श परीषह का विजय प्राप्त करते हैं।

मल—गर्मी के दिनों में पसीना आता है, उस पर धूल जम जाती है तथापि वे मुनिराज स्नान के सर्वथा त्यागी होते हैं। इसके सिवाय नाखून बढ जाते हैं, बाल बढ जाते हैं, रोम बढ जाते हैं तथा अन्य अनेक प्रकार से शरीर मलिन हो जाता है तथापि शरीरका स्वभाव चिंतवन करते हुए वे मुनिराज उस ओर अपना ध्यान कभी नहीं देते। वे तो आत्मा को ही अपना समझकर उसके गुणोंका चिंतवन करते रहते हैं। और इस प्रकार मल परीषह का विजय प्राप्त करते हैं।

सत्कार-पुरस्कार—वे मुनिराज घोर तपस्वी होते हैं, परम ब्रह्मचारी होते हैं महाविद्वान् होते हैं और अनेक परवादियों को जीतने वाले होते हैं तथापि वे मुनिराज अपने मान अपमान को समान समझते हैं। यदि कोई उनका अपमान भी करता है तो भी वे उसको हितका ही उपदेश देते हैं और उस अपमान को अपने कर्म का उदय समझते हैं। इस प्रकार वे मुनिराज सत्कार पुरस्कार परीषह का सहन करते हैं।

प्रज्ञा—जो मुनि अंग पूर्व के धारी होते हैं समस्त ग्रंथ और अर्थों के जानकार होते हैं, भूत भविष्यत और वर्तमान के जानकार होते हैं तथा सर्वोत्कृष्ट विद्वान् होते हैं तथापि वे मुनिराज अपने मनमें अपने ज्ञानका कभी अभिमान नहीं करते। इस प्रकार वे मुनिराज अपने अभिमान का निरास कर प्रज्ञा परीषह को जीतते हैं।

अज्ञान—जो मुनि बहुत दिन के महा तपस्वी हैं, परम ब्रह्मचारी हैं फिर भी यदि उनके ज्ञान की वृद्धि नहीं होती और दुष्ट लोग उनको अज्ञानी कहते हैं, "ये कुछ नहीं जानते, पशुके समान हैं", इस प्रकार दुर्वचन कहते हैं तथापि वे मुनिराज अपने मन में किसी प्रकारका खेद नहीं करते। मेरे ज्ञान का अतिशय प्राप्त क्यों नहीं होता? इस प्रकार का खेद अपने मनमें कभी नहीं करते। इस प्रकार वे अज्ञान परीषह का सहन करते हैं।

अदर्शन—जो मुनि परम तपस्वी होते हैं, परम ब्रह्मचारी होते हैं, समस्त तत्त्वों के जानकर अत्यन्त बुद्धिमान और ज्ञानी होते

हैं, परम पूज्य होते हैं और अरहंत साधु वर्ग के परम भक्त होते हैं, ऐसे इन साधुओं के भी कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं होती है तथापि "इतने दिन तक घोर तपश्चरण करने पर भी मुझे कोई ऋद्धि प्राप्त नहीं हुई है, तपस्वी लोगों को ऋद्धियां प्राप्त होती हैं ऐसा जो शास्त्रों में लिखा है वह सब मिथ्या है, फिर तपश्चरण करना व्यर्थ है" इस प्रकार वे मुनिराज कभी चिन्तवन नहीं करते, न अपने मन में किसी प्रकार का खेद करते हैं। इस प्रकार वे मुनिराज अदर्शन परीषह को सहन करते हैं।

इन परीषहों के सहन करने से कर्मोंका आस्रव रुक जाता है तथा तपश्चरण के द्वारा संचित कर्मों की निर्जरा होकर शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

चारित्र

चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम या उपशम होने पर जो आत्माकी विशुद्धि होती है उसको चारित्र कहते हैं। अथवा समस्त प्राणियों की रक्षा करना और समस्त इन्द्रियों का निग्रह करना चारित्र है। इस चारित्र के पांच भेद हैं। सामायिक, छेदोपस्थाना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसांपराय और यथाख्यात। यह पांचों प्रकारका चारित्र संवरका कारण है तथा इनमें उत्तरोत्तर आत्मा की विशुद्धि अधिक अधिक होती जाती है। संक्षेप से इनका स्वरूप इस प्रकार है—

सामायिक—किसी नियत समय तक समस्त पापरूप योगोंका त्याग कर देना सामायिक है। मुनिराज प्रातःकाल, मध्याह्न काल

और सायंकाल तीनों समय सामायिक करते हैं। इस सामायिकका प्रत्येक समय का काल कम से कम दो घडी और अधिक से अधिक छह घडी है। इस प्रकार प्रत्येक साधु की छह घड़ी या बारह घड़ी अथवा अठारह घडी प्रतिदिन सामायिक में निकल जाती है। इसमें समस्त पापोंका त्याग हो जाता है; इसलिये इतने समय तक अशुभ कर्मोंका आस्रव रुक जाता है।

छेदोपस्थापना—किसी मुनिके प्रमाद के निमित्त से यदि कोई दोष लग जाय तो उसको दूर करने के लिये जो क्रिया की जाती है, प्रायश्चित किया जाता है या उपवास आदि किया जाता है उसको छेदोपस्थापना कहते हैं। अथवा हिंसा आदि पाप रूप कर्मों को विकल्प रूप से त्याग करना छेदोपस्थापना है। मुनियों के जितना त्याग होता है वह तो होता ही है किन्तु उससे अधिक विकल्प रूप से त्याग करना छेदोपस्थापना है। इसीलिये इसमें अधिक संवर होता है।

परिहारविशुद्धि—परिहार शब्दका अर्थ त्याग है। हिंसा का सर्वथा त्याग हो जाना परिहार है तथा उससे आत्मा में जो विशुद्धि होती है उसको परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं। यह परिहार विशुद्धि चारित्र ऐसे मुनियों के होता है जिनको आयु कम से कम तीस वर्ष की हो तथा जो चार, पांच, छह, सात, आठ या नौ वर्ष तक तीर्थंकर परम देवके चरण कमलों की सेवा में रहे हों जो ग्यारह अंग नौ पूर्व के ज्ञाता हों; जो जीवों के उत्पन्न होने के स्थान, जंतु रहित स्थान, देश, द्रव्य आदि के स्वभाव के जानकार

हों, जो प्रमाद रहित हों, अत्यन्त शक्ति शाली हों, कर्मों की अ
निर्जरा करने वाले हों, घोर तपश्चरण करने वाले हों तथा सामायिक
के समय को छोड़कर शेष समय में कम से कम चार कोस प्रति-
दिन गमन करते हों उनके यह परिहारविशुद्धि चारित्र होता है।
ऐसे मुनियों के ऐसी ऋद्धियां प्रकट हो जाती हैं कि जिनसे गमन
करते समय सूक्ष्म या स्थूल किसी जीवको उनसे बाधा नहीं होती।
इसीलिये इससे कर्मों की अधिक निर्जरा होती है।

सूक्ष्मसांपराय—गुणस्थानों का स्वरूप आगे लिखेंगे। उनमें
से दशवें गुणस्थान तक अनेक प्रकृतियों का नाश हो जाता है
तथा क्रोध, मान, माया और स्थूल लोभ का भी नाश हो जाता है।
दशवें गुणस्थान में अत्यन्त सूक्ष्म लोभ रह जाता है और वह भी
मोक्ष प्राप्ति का लोभ है। ध्यान करते करते वे मुनि कर्म प्रकृतियों
का नाश करते हुए जब दशवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं तब
उनके वह सूक्ष्मसांपराय नाम का चारित्र होता है। इसमें सूक्ष्म
लोभ को छोड़कर शेष समस्त कषायें नष्ट हो जाती हैं। इसलिये
इस चारित्र के द्वारा कर्मों का विशेष संवर होता है।

यथाख्यात—मोहनीय कर्म के नष्ट होने से आत्माका जैसा
शुद्ध स्वभाव प्रकट हो जाता है वैसा ही शुद्ध स्वभाव प्रकट हो जाना
यथाख्यात चारित्र है। अथवा आत्माका जैसा शुद्ध स्वरूप है वैसा
प्रकट हो जाना यथाख्यात चारित्र है। अथवा इसका दूसरा नाम
अथाख्यात भी है। अथ शब्दका अर्थ प्रारंभ होता है। जो चारित्र
मोहनीय कर्म के सर्वथा नाश होने पर प्रकट होता है उसको अथा-

ख्यात कहते हैं। इस चारित्र में अनंत गुणी विशुद्धि होती है और अनंत गुणी कर्मों की निर्जरा होती है।

तप

कर्मों की निर्जरा का मुख्य कारण तप है। अथवा यों कहना चाहिये कि तप ही साक्षात् मोक्षका कारण है। उस तपके दो भेद हैं—एक बाह्य तप और दूसरा अंतरंग तप। जो बाहर से दिखाई दे या जाना जाय अथवा जिसको गृहस्थ भी कर सकें उसको बाह्य तप कहते हैं उस बाह्य तप के छह भेद हैं। अनशन, अवमोदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रस-परित्याग, विविक्तशय्यासन और काय-क्लेश।

अनशन—अनशन शब्दका अर्थ उपवास है। जो उपवास मंत्रसाधन आदि किसी अपेक्षा से रहित, संयम की वृद्धि के लिये राग द्वेष को दूर करने के लिये, कर्मों को नाश करने के लिये, ध्यान की वृद्धि के लिये और आगम की वृद्धि के लिये किया जाता है उसको अनशन तप कहते हैं। वह अनशन दो प्रकार का है। एक तो नियत काल तक और दूसरा शरीर त्याग पर्यंत। एकाशन, एक दिन, दो दिन, चार दिन आदि काल की मर्यादा लेकर जो उपवास किया जाता है वह नियत काल अनशन है। तथा समाधिमरण के समय जो मरण पर्यंत आहार का त्याग किया जाता है वह अनियत काल अनशन कहलाता है। इससे इन्द्रियोंका दमन होता है, राग द्वेष दूर होता है और कर्मोंकी परम निर्जरा होती है।

अवमोदर्य—अवम शब्दका अर्थ कम है। आहारकी जितनी मात्रा है या पेट के लिये जितना आहार चाहिये उससे कम आहार लेना अवमोदर्य है। कम आहार लेने से संयमकी वृद्धि होती है अनेक दोष शांत होते हैं, प्रमाद जन्य दोप नष्ट हो जाते हैं, संतोप गुण की वृद्धि होती है और सुख पूर्वक स्वाध्याय होता है। कम आहार लेने से निर्मल ध्यान, तप या स्वाध्याय होता है, तथा इसी लिये अधिक कर्मों की निर्जरा होती है।

वृत्ति-परिसंख्यान—मुनि लोग जब अहार के लिये गमन करते हैं तब कुछ नियम लेकर गमन करते हैं। यथा—आज, पहले घर में आहार मिलेगा तो लेंगे नहीं तो नहीं। आज, चार छह घरतक आहार मिलेगा तो लेंगे नहीं तो नहीं। आज, पहली गली में आहार मिलेगा तो लेंगे अन्यथा नहीं। आज पडगाहन करने वाला पुरुप ही होगा या दंपतो होंगे या कलश लेकर खडे होंगे तो आहार लेंगे नहीं तो नहीं। ऐसे अटपटे नियमों को वृत्ति-परिसंख्यान कहते हैं। वृत्ति का अर्थ चर्या है और परिसंख्यान का अर्थ गणना या नियम है। चर्या के लिये कोई भी नियम कर लेना वृत्ति-परिसंख्यान है। इस तपश्चरण के करने से आशा का सर्वथा त्याग होजाता है और तपश्चरण की वृद्धि होती है। इसीलिए इसके द्वारा विशेप कर्मों की निर्जरा होती है।

रसपरित्याग—रस छह हैं-घी, दही, दूध, गुड, तेल और नमक। इन छहों रसों में से किसी एक दो आदि रसों का त्याग कर देना या समस्त रसों का त्याग करदेना रसपरित्याग तप है।

रसों के त्याग करने से इन्द्रियों का दमन होता है, तेज की हीनता होती है तथा संयम को विघात करने वाले द्रव्य वा परिणामों की सर्वथा निवृत्ति या त्याग हो जाता है। इसीलिये इससे संयम की अतिशय वृद्धि होती है और कर्मों की विशेष निर्जरा होती है।

विविक्त-शय्यासन—विविक्त शब्द का अर्थ एकान्त स्थान है। एकान्त स्थान में शय्या आसन रखना विविक्त-शय्यासन है एकांतमें शय्या आसन रखने में पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन होता है, उत्कृष्ट स्वाध्याय होता है और उत्कृष्ट ही ध्यान होता है। तथा इन तीनों से विशेष कर्मों की निर्जरा होती है।

कायक्लेश-जान बूझकर इन्द्रियों को विशेष दमन करने के लिये शरीरको क्लेश पहुँचाना कायक्लेश तप है। वह अनेक प्रकार से होता है। यथा मौन धारण करना, गर्मी के दिनों में पर्वतपर ध्यान धारण करना, जाडे के दिनों में नदी के किनारे या मैदान में ध्यान लगाना तथा वर्षा के दिनों में वृक्षके नीचे ध्यान धारण करना या खडे होकर सामायिक या ध्यान लगाना आदि। इस तपश्चरण के करने से विषय सुखों से अत्यंत निवृत्ति होती है, शांति या संतोष की वृद्धि होती है और धर्म की या मोक्ष मार्ग की प्रभावना होती है, तथा इसलिये इससे विशेष कर्मोंकी निर्जरा होती है।

इस प्रकार ये छह वाह्य तप हैं।

अंतरंग-तप

अंतरंग तप के भी छह भेद हैं—प्रायश्चित, विनय वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इन छहों प्रकारके तप को न तो

अन्य गृहस्थादिक धारण कर सकते हैं और न ये बाहर से जान पड़ते हैं। इसीलिये इनको अंतरंग-तप कहते हैं। इनमें से प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं, विनय के चार भेद हैं, वैयावृत्य के दस भेद हैं, स्वाध्याय के पांच भेद हैं, व्युत्सर्ग के दो भेद हैं और ध्यान के चार या सोलह भेद हैं।

प्रायश्चित्त

प्राय: शब्द का अर्थ अपराध है और चित्त शब्द का अर्थ शुद्धि है। अपराधों की शुद्धि करना प्रायश्चित्त है। अथवा प्राय: शब्दका अर्थ साधु वर्ग है। साधु लोगों का चित्त जिस काम में लगा रहे उसको प्रायश्चित्त कहते हैं। यह प्रायश्चित्त प्रमाद जन्य दोषों को दूर करने के लिये, भावों की शुद्धता रखने के लिये शल्य रहित तपश्चरण करने के लिये, मर्यादा बनाये रखने के लिये, संयम की दृढ़ता के लिये और आराधनाओं के पालन करने के लिये किया जाता है। इसके नौ भेद हैं। यथा—

आलोचना—जिस समय गुरु एकांत स्थान में प्रसन्नचित्त विराजमान हों उस समय जो शिष्य उन गुरुसे दश दोषों से रहित अपने प्रमादजन्य दोषों को निवेदन करता है उसको आलोचना कहते हैं। दश दोष ये हैं:—कुछ उपकरण भेट कर आलोचना करना, मैं रोगी या दुर्बल हूं यह कहकर आलोचना करना, जो दोप किसीने नहीं देखे हैं उनको छिपा कर देखे हुए दोप कहना, स्थूल दोप कहना, महा दोपों को न कहकर उनके अनुकूल दोप कहना,

ऐसा दोष करने पर क्या प्रायश्चित्त होता है इस प्रकार पूछना, पाक्षिक, मासिक आलोचनाओं के शब्दों के होते हुए अपने पहले दोष कहना, गुरु का दिया हुआ प्रायश्चित ठीक है या नहीं ऐसा किसी अन्य से पूछना, किसी प्रयोजनको लेकर अपने समान साधु से ही अपने दोष कहना और किसी दूसरे साधु के द्वारा लिये हुए प्रायश्चित्त को देखकर ऐसा ही मेरा अपराध है यही प्रायश्चित्त मैं करलूं इस प्रकार स्वयं प्रायश्चित्त कर लेना, दश दोष हैं। इसका अभिप्राय यह है कि मायाचारी रहित आलोचना करनी चाहिये।

प्रतिक्रमण—प्रमादजन्य दोषों के लिये स्वयं पश्चात्ताप करना तथा ये दोष मिथ्या हों ऐसा चिंतवन करना प्रतिक्रमण है। प्रतिक्रमण प्रायः आचार्य ही करते हैं।

तदुभय—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों करना तदुभय है।

विवेक—जिस साधुको जिस अन्न पान वा उपकरणमें आसक्ति हो उसका त्याग करदेना विवेक है।

व्युत्सर्ग—नियत काल तक कायोत्सर्ग करना, शरीर से ममत्व का त्याग कर देना व्युत्सर्ग है।

तप—उपवास आदिको तप कहते हैं।

छेद—एक, दिन एक पक्ष या एक महीना आदि के लिये दीक्षा का छेद कर देना छेद है। प्रथम तो आचार्यों के वचनों में शक्ति होती है इसलिये उनके कहने से शिष्य का तपश्चरण कम हो जाता है। दूसरे थोडे दिन के दीक्षित अधिक दिनके दीक्षितको

पहले नमस्कार करते हैं। दीक्षा का छेद होने पर अधिक दिन का दीक्षित भी थोडे दिन का दीक्षित हो जाता है। यह उसके अपराध का दंड है।

परिहार—एक दिन, एक पक्ष या महीना आदि किसी मर्यादा तक संघ से अलग करदेना परिहार है। संघ से अलग हुआ मुनि संघ से दूर बैठता है, वह सबको नमस्कार करता है, उसको कोई नहीं करता तथा वह उलटी पीछी रखता है।

स्थापना—फिर से दीक्षा देना स्थापना है। इस प्रकार प्रायश्चित्त के नौ भेद बतलाये।

विनय

नम्रतासे रह कर विनय करना विनय है। इसके चार भेद हैं। ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनय, और उपचारविनय।

ज्ञानविनय—आदर पूर्वक आलस छोडकर देश काल की विशुद्धता पूर्वक मोक्षके लिये ज्ञानका अभ्यास करना, पठन पाठन स्मरण आदि करना ज्ञान विनय है।

दर्शनविनय—देव, शास्त्र, गुरु या पदार्थों के श्रद्धान में किसी प्रकार की शंका नहीं करना, निर्मल सम्यग्दर्शनका पालन करना दर्शन विनय है।

चारित्रविनय—निर्मल चारित्र का पालन करना, हृदयमें अत्यंत प्रसन्न होकर चारित्रका अनुष्ठान करना, उसको प्रणाम करना, हाथ जोडना आदि चारित्र विनय है।

उपचारविनय—गुरु के आने पर उठना, सामने जाकर लाना, हाथ जोडना वंदना करना, पीछे चलना आदि सब उपचार विनय है। गुरुके परोक्षमें भी मन वचन काय से उनके लिये हाथ जोडना, उनके गुण स्मरण करना, गुणोंका कहना उपचार विनय है। इस विनय तपको धारण करने से ज्ञानका लाभ होता है, आचरणों की विशुद्धता होती है और श्रेष्ठ आराधनाओं का पालन होता है। इस विनय का स्वरूप कहा। अब आगे वैयावृत्य को कहते हैं।

वैयावृत्य

शरीर की चेष्टा से या अन्य किसी प्रकार से गुरुओं की सेवा सुश्रूषा करना, पांव दाबना, उनके अनुकूल अपनी प्रवृत्ति रखना आदि वैयावृत्य है। यह वैयावृत्य विचिकित्सा या ग्लानि दूर करने के लिये, साधर्मियों से अनुराग बढाने के लिये और समाधि धारण करने के लिये, किया जाता है। मुनि दश प्रकार के होते हैं इसलिये उन सबकी वैयावृत्य करना दश प्रकार का वैयावृत्य है। वे दश प्रकार के मुनि इस प्रकार हैं।

आचार्य—जिनसे दीक्षा ग्रहण की जाय व्रत ग्रहण किये जाय उनको आचार्य कहते हैं।

उपाध्याय—जिनसे आगम का अभ्यास किया जाय उनको उपाध्याय कहते हैं।

तपस्वी—अनेक महा उपवास करने वालों को तपस्वी कहते हैं।

करने के लिये, तपश्चरण की वृद्धि के लिये और अतिचारों की शुद्धता के लिये किया जाता है। इसके पांच भेद हैं। यथा—

वाचना—मोक्षमार्ग को प्रतिपादन करनेवाले निर्दोष ग्रंथों को पढ़ना पढ़ाना, उनके अर्थ समझना या बतलाना या ग्रंथ अर्थ दोनों को पढ़ना और योग्य पात्रों को पढ़ाना वाचना है।

पृच्छना—अपनी शंकाओं को दूर करने के लिये या अपने ज्ञानको दृढ बनाने के लिये या किसी ग्रंथका अर्थ जानने के लिये किसी अन्य विद्वान् से पूछना पृच्छना है।

अनुप्रेक्षा—जाने हुए पदार्थों को या किसी ग्रंथ या उसके अर्थ को बार बार चिंतवन करना अनुप्रेक्षा है।

आम्नाय—जो व्रती पुरुष इस लोक या परलोक की समस्त इच्छाओं से रहित हैं तथा अनेक शास्त्रों के जानकार हैं वे जो कुछ बार बार पाठ करते हैं, कंठस्थ करते हैं उसको आम्नाय नामका स्वाध्याय कहते हैं।

धर्मोपदेश—मिथ्यामार्ग को दूर करने के लिये, अनेक शंकाओं को दूर करने के लिये या जाने हुए पदार्थों के स्वरूप को प्रकाशित करने के लिये जो धर्मकथाओं का कहना है उसको धर्मोपदेश कहते हैं। इस प्रकार संक्षेप से स्वाध्यायका स्वरूप है। आगे व्युत्सर्ग को कहते हैं।

व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग शब्द का अर्थ त्याग है। उसके दो भेद हैं-एक बाह्य उपधियों का त्याग और दूसरा अभ्यंतर उपधियोंका त्याग।

बाह्योपधित्याग—दूसरे के पदार्थको बल पूर्वक अपना बनाना उपधि है। जो पदार्थ आत्मा के साथ एकरूप होकर नहीं रहते ऐसे आत्मा से सर्वथा भिन्न पदार्थोंको बाह्योपधि कहते हैं। उन का सर्वथा त्याग देना बाह्योपधि व्युत्सर्ग है।

अभ्यतरोपधिव्युत्सर्ग—क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुंसक वेद—इन अभ्यंतर परिग्रहों का सर्वथा त्यागकर देना अभ्यंतरोपधि व्युत्सर्ग है। अथवा शरीर से ममत्व का त्यागकर देना अभ्यंतरोपधि व्युत्सर्ग है। यह दो प्रकार से होता है—एक नियत समय तक और दूसरा समाधिमरण के समय अंत समय तक।

यह दोनों प्रकारका व्युत्सर्ग समस्त परिग्रहों से बचने लिए, ममत्व को दूर करने के लिये, जीवित रहने की आशाका त्याग करने के लिये, दोषों को दूर करने के लिये और मोक्ष मार्ग की भावना में सदा काल तत्पर रहने के लिये किया जाता है। इस प्रकार व्युत्सर्गका स्वरूप निरूपण किया। आगे ध्यानको कहते हैं।

ध्यान

अपने हृदयको अन्य समस्त चिंतवनों से हटाकर किसी एक पदार्थ के चिंतवन में लगाना ध्यान है ऐसे इस ध्यानका उत्कृष्ट

काल अंतर्मुहूर्त्त है। तथा जो उत्तम संहनन को धारण करने वाले हैं उन्हीं के उत्कृष्ट काल तक ध्यान होता है। वज्रवृषभनाराच, वज्र-नाराच और नाराच ये तीन उत्तम संहनन हैं। साक्षात् मोक्ष प्राप्त करने वाला ध्यान प्रथम संहनन वाले के ही होता है।

इस ध्यानके चार भेद हैं—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। इनमें से आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान ये दोनों ध्यान संसार के कारण हैं। धर्म्यध्यान परंपरा से मोक्षका कारण है और शुक्ल ध्यान साक्षात् मोक्षका कारण है।

आर्त्तध्यान

ऋत शब्द से आर्त्त बना है। ऋत शब्दका अर्थ दुःख है। जो ध्यान किसी दुःख से उत्पन्न होता है उसको आर्त्तध्यान कहते हैं। इसके चार भेद हैं।

पहलाआर्त्तध्यान—जो पदार्थ अच्छा न लगे, दुखदायी हो उसको अमनोज्ञ या अनिष्ट कहते हैं। किसी अनिष्ट पदार्थ के संयोग होने पर उसको दूर करने के लिये बार बार चिंतवन करना पहला अनिष्ट संयोगज आर्त्तध्यान कहलाता है।

दूसरा आर्त्तध्यान—किसी मनोज्ञ या इष्ट पदार्थ के वियोग होने पर उसके संयोग के लिये बार बार चिंतवन करना इष्ट वियोगज आर्त्तध्यान कहलाता है।

तीसरा आर्त्तध्यान—किसी वेदना या रोग के उत्पन्न होने पर उसके दूर करने के लिये शरीर पटकना, शोक करना, रोना, आंसू डालना आदि सब वेदना से उत्पन्न होने वाला तीसरा आर्त्तध्यान कहलाता है।

चौथा निदान—जो पदार्थ प्राप्त नहीं हैं उनको प्राप्त करने की आकांक्षा करना तथा बार बार आकांक्षा करते रहना निदान है। इस प्रकार आर्त्तध्यान के चार भेद हैं। यह चारों प्रकार का आर्त्त-ध्यान तिर्यंच गतिका कारण है। तथा यह ध्यान पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे, पांचवें गुणस्थान तक होता है और निदान को छोड़ कर छठे गुणस्थान में भी होता है।

रौद्रध्यान

जो ध्यान रुद्र परिणामों से होता है उसको रौद्रध्यान कहते हैं। तथा रुद्र परिणाम हिंसा, झूठ, चोरी आदि पापों के कारण होते हैं। इसके चार भेद हैं। हिंसानंद, मृपानंद, चौर्यानंद और विषय-संरक्षणानंद।

हिंसानंद—हिंसा में आनंद मानना बार बार उसका चितवन करना हिंसानंद रौद्रध्यान है।

मृपानंद—झूठ बोलने में आनंद मानना, बार बार उसका चतवन करना मृपानंद रौद्रध्यान है।

चौर्यानंद—चोरी करने में आनंद मानना, बार बार उसका चितवन करना चौर्यानंद रौद्रध्यान है।

विषयसंरक्षणानंद—इन्द्रियों के विषयों की रक्षा करने में आनंद मानना या परिग्रह में आनंद मानना, वार बार उसका चिंतवन करना विषयसंरक्षणानंद रौद्रध्यान है। यह ध्यान पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे गुणस्थान तक होता है तथा धनादिक की रक्षा करने के निमित्त कभी कभी पांचवें गुणस्थान में भी होता है। यह रौद्र-ध्यान नरक का कारण है परंतु सम्यग्दृष्टी का रौद्रध्यान सम्यग्दर्शन के प्रभाव से नरक का कारण नहीं होता। यदि कारण वश किसी मुनिके यह रौद्रध्यान हो जाय तो उसका मुनिपना या छठा गुण-स्थान उसी समय छूट जाता है। इस प्रकार रौद्रध्यानका निरूपण किया। अब धर्म्यध्यान का निरूपण करते हैं।

धर्म्यध्यान

धर्मका चिंतवन करने से जो ध्यान होता है उसको धर्म्यध्यान कहते हैं। यह धर्म्यध्यान सम्यग्ज्ञानका मूल कारण है, उपशम का कारण है, अप्रमादका कारण है, मोह को दूर करने वाला है, धर्म में दृढ़ता करने वाला है, सुखका कारण है और परंपरा मोक्षका कारण है। इसके भी चार भेद हैं। यथा—

आज्ञाविचय—आगम को प्रमाण मान कर उसके अनुसार समस्त तत्त्वों का श्रद्धान करना आज्ञाविचय है। जिस समय किसी सर्वज्ञ या आचार्य आदि उपदेशक का अभाव हो, कर्मों के उदय से बुद्धि की मंदता हो और चिंतवन में आये हुए पदार्थ अत्यंत सूक्ष्म हों, हेतु दृष्टांत कुछ मिल नहीं सकते हों उस समय भगवान जिनेन्द्र

देवको प्रमाण मानकर "भगवान जिनेन्द्र देव वीतराग सर्वज्ञ हैं इसलिये वे किसी प्रकार भी मिथ्या भाषण नहीं कर सकते.' इस प्रकार भगवान जिनेन्द्र देव पर अटल श्रद्धा रखकर और उनके कहे हुए आगमको सर्वथा प्रमाण मानकर आगम के अनुसार ही सूक्ष्म पदार्थों का श्रद्धान करना तथा स्थूल पदार्थों का श्रद्धान भी आगम के अनुसार ही करना और उसी प्रकार उन पदार्थों का चिंतवन करना आज्ञा विचय नामका धर्म्यध्यान है। अथवा सम्यग्दर्शनादिक के कारण जिसके परिणाम विशुद्ध हैं जो अपने तथा अन्य मतके शास्त्रोंका जानकर है ऐसा पुरुष श्रुतज्ञान की सामर्थ्य से सिद्धांत शास्त्र के अनुसार हेतु नय दृष्टांत पूर्वक जो सर्वज्ञ प्रणीत तत्त्वोंका निरूपण करता है तथा दूसरों पर प्रभाव डालकर भगवान सर्वज्ञ देवकी आज्ञाका प्रचार करता है और ऐसे प्रचार के लिये वारवार चिंतवन करता है वह भी आज्ञा विचय नामका धर्म्यध्यान है। विचय शब्दका अर्थ विचारणा, वार वार चिंतवन करना है। भगवान की आज्ञा का प्रचार किस प्रकार हो—इस प्रकार वार वार चिंतवन करना आज्ञा-विचय है।

अपाय-विचय—जिस प्रकार जन्म से अंधे पुरुष बलवान होकर भी मार्ग भूल जाते हैं, यदि उनको कोई जानकार मार्ग को न बतावे तो वे नीची ऊंची भूमि में गिर पडते हैं, कांटे कंकड लग जाते हैं और मार्ग भूलकर विषम वनमें पड जाते हैं, फिर चलते हुए भी मार्ग पर नहीं आते। इसी प्रकार सर्वज्ञ प्रणीत मोक्ष मार्ग से विमुख हुए तथा मोक्षकी इच्छा करने वाले पुरुष भी मोक्ष मार्ग को न

जानने के कारण मोक्ष-मार्ग से बहुत दूर जा पड़ते हैं और अपने आत्मा का कल्याण नहीं कर सकते। इस प्रकार चिंतवन करना अपाय विचय है। अथवा इस प्रकार मिथ्या मार्ग पर चलने वाले पुरुष अपना मिथ्या मार्ग छोड़कर सन्मार्ग पर कब और किस प्रकार आवेंगे इस प्रकार मिथ्या मार्ग के अपायका चिंतवन करना, मिथ्या मार्ग के नाश का चिंतवन करना अपाय विचय नाम का धर्म्यध्यान है। अथवा इनके अनायतनों की सेवा कब छूटेगी और पापाचरण कब छूटेगा, इस प्रकार का चिंतवन करना अपाय-विचय है।

विपाक-विचय—कर्मों के उदय उदीरणा का चिंतवन करना विपाक विचय नामका धर्म्यध्यान है। किस किस गुणस्थान में किस किस कर्मका उदय होता है, उसको पूर्ण रूप से चिंतवन करना विपाक विचय है। अथवा संसार में जो कुछ सुख दुख प्राप्त होता है वह सब कर्म के उदय से होता है, तथा कर्मका उदय अनिवार्य है, उसको कोई नहीं रोक सकता इस प्रकार चिंतवन करना विपाक विचय है।

संस्थान विचय—लोकाकाश का स्वरूप आगे लिखेंगे। उस लोकाकाश के द्वीप समुद्रों का, उनके अकृत्रिम जिनालयोंका, देव देवियों के निवास स्थानका, नारकी तिर्यंच और मनुष्यों के निवास स्थानका चिंतवन करना संस्थान विचय है।

इस प्रकार धर्म्यध्यान के चार भेद हैं। अथवा उत्तम क्षमा आदि दश प्रकार के धर्मोंका चिंतवन करना धर्म्यध्यान है। यह सब प्रकार का धर्म्यध्यान चौथे पांचवें छठे गुणस्थान तक तथा श्रेणी आरोहण से पहले सातवें गुणस्थान तक होता है। यह धर्म्यध्यान स्वर्गादिक का कारण है और परंपरासे मोक्षका कारण है। इस प्रकार संक्षेप से धर्म्यध्यान का स्वरूप है। आगे शुक्ल ध्यान को कहते हैं।

शुक्ल ध्यान

शुद्ध आत्मा के स्वरूप का चिंतवन करना शुक्लध्यान है। यह भी चार प्रकार का है। यथा—

पृथक्त्व-वितर्क-ध्यान-मन वचन काय के योगों से होता है। जो ध्यान मन वचन काय इन तीनों योगों से होता है, कभी मन से होता है फिर बदलकर वचन से होने लगता है वा बदलकर काय से होने लगता है। इस प्रकार जो पृथक् पृथक् योगों से होता है उसको पृथक्त्व वितर्क कहते हैं। वितर्क शब्दका अर्थ श्रतज्ञान है। यह पृथक्त्व वितर्क नामका शुक्लध्यान श्रुतज्ञानी श्रुत केवली को ही होता है अन्य किसी के नहीं होता। तथा सातवें आठवें नौवें दशवें गुणस्थान तक होता है।

एकत्व वितर्क—यह दूसरा शुक्लध्यान किसी भी एक ही योगसे होता है। इसीलिये इसको एकत्व वितर्क कहते हैं। यह शुक्लध्यान

भी श्रुतकेवली के ही होता है। तथा ग्यारहवें और बारहवें गुण स्थान में होता है।

इन दोनों शुक्लध्यानों में से पहले शुक्लध्यान में संक्रमण होता रहता है। किसी एक ही पदार्थ का चिंतवन करते समय भी कभी मन से चिंतवन होता है, फिर मन बदल कर वही पदार्थ वचन वा काय से चिंतवन में आता है। इस प्रकार योगों का संक्रमण होता है तथा शब्द और अर्थ दोनों का संक्रमण होता है। एक शब्द छोडकर दूसरे शब्द से चिंतवन होने लगता है फिर अन्य किसी शब्द से होने लगता है। इसी प्रकार अर्थ में भी संक्रमण होता है। यह सब संक्रमण पहले शुक्लध्यान में ही होता है। दूसरे में किसी प्रकार का संक्रमण नहीं होता। तथा दोनों ही ध्यान श्रुतकेवली के ही होते हैं।

सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाती—जिस ध्यान में चिंतवन की क्रिया अत्यंत सूक्ष्म हो उसको सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपाती शुक्लध्यान कहते हैं। यह तेरहवें गुणस्थान में होता है तथा काय योग से ही होता है। इस गुणस्थान में चिंतवन अत्यंत सूक्ष्म रूप से होता है परंतु कर्मों की निर्जरा बराबर होती रहती है और वह निर्जरा बिना ध्यान के नहीं होती। इसलिये केवली भगवान के उपचार से ध्यान माना जाता है तथा केवलज्ञानी के ही होता है।

व्युपरतक्रियानिवृत्ति—इस ध्यान में कोई किसी प्रकारकी क्रिया नहीं होती। आस्रव बंध सब बंद हो जाता है। यथाख्यात चारित्र

की पूर्णता हो जाती है। यह चौदहवें गुणस्थान में ही होता है। यह चौदहवें गुणस्थान का काल अ इ उ ऋ लृ ये पांच लघु अक्षर जितने समय में बोले जाते हैं उतना काल है। तथा इस गुणस्थान के अंत में यह ध्यान होता है तथा गुणस्थान का काल पूर्ण होने पर उसी समय मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार यह चौथा शुक्लध्यान मोक्षका साक्षात् कारण है।

इस प्रकार दोनों प्रकार के तपश्चरण का निरूपण किया। यह दोनों प्रकार का तपश्चरण न आस्रव होने देता है न बंध होने देता है तथा कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ मोक्ष प्राप्त करा देता है। इस प्रकार तपश्चरण का स्वरूप बतलाकर सकल चारित्र का स्वरूप समाप्त किया।

मुनियों के गुण

गुण दो प्रकार के हैं—एक मूल गुण और दूसरे उत्तर गुण। मुनियों को मूलगुण तो अवश्य पालन करने पड़ते हैं। मूलगुणों के बिना मुनि, मुनि नहीं कहला सकते। इसलिये मूलगुणों का पालन करना अत्यावश्यक है। उत्तरगुण यथासाध्य शक्ति के अनुसार पालन किये जाते हैं। मूलगुण अट्ठाईस हैं तथा उत्तर गुण चौरासी लाख हैं। पांच महाव्रत, पांच समिति, पांचों इन्द्रियों का दमन, छह आवश्यक, नग्न रहना, खड़े होकर आहार लेना, दिन में एक ही बार आहार लेना, केश लोंच करना, स्नानका सर्वथा त्याग, दंत धावनका सर्वथा त्याग और भूशयन करना।

इनमें से पांच महाव्रत और पांच समिमियों का वर्णन तो पहले आ चुका है। शेषका स्वरूप इस प्रकार है:—

इन्द्रियों का दमन—इन्द्रियां पांच हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु और श्रोत्र। इनके विषय सत्ताईस हैं। स्पर्शन इन्द्रिय का विषय स्पर्श है। वह रूखा, चिकना, हलका, भारी नरम, कठोर, शीत, उष्ण के भेद से आठ प्रकार का है। रसना का विषय रस है। वह खट्टा, मीठा, कड़वा, कषायला और चरपरा इनके भेद से पाँच प्रकार का है। घ्राण इन्द्रिय का विषय सुगंध और दुर्गंध है। चक्षु इन्द्रियका विषय लाल, पीला, काला, सफेद और हरा है और श्रोत्र का विषय शब्द है जो सात प्रकार हैः-षड्ग, ऋषभ, गांधार, मध्यम धैवत, पंचम और निषाद।

इन सब विषयों का त्याग कर इन्द्रियों को अपने वश में रखना इन्द्रियों का दमन करना है। मुनिराज सदा काल कछुए के समान अपनी इन्द्रियों को समस्त विषयों से समेट कार अपने वश में रखते हैं।

आवश्यक—जो अवश्य किये जांय उनको आवश्यक कहते हैं। आवश्यक छह हैं। समता, स्तुति, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और व्युत्सर्ग।

समता—जीना, मरना, लाभ, अलाभ, संयोग, वियोग, बंधु, शत्रु सुख दुःख आदि सब में समान परिणाम रखना, किसी में न

तो राग करना और न द्वेष करना समता है। इसीको सामायिक कहते हैं।

स्तुति—भगवान ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यंत चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करना, उनके नाम की निरुक्ति पूर्वक उनके गुणों का वर्णन करना तथा मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक उनकी भाव ा करना स्तुति है।

वंदना—अरहंत सिद्ध या उनकी प्रतिमाओं को प्रणाम करना उनकी स्तुति करना अथवा दीक्षागुरु, विद्यागुरु, गुणगुरु की स्तुति करना, प्रणाम करना, अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति पूर्वक अरहंत सिद्ध और उनकी प्रतिमा की भक्ति करना, श्रुतभक्ति पूर्वक आचार्यादिक की वंदना करना, मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक उनकी स्तुति आदि करना वंदना है।

प्रतिक्रमण—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव संबंधी कोई भी अपराध होने पर मन वचन काय की शुद्धता पूर्वक अपनी निंदा करना, गर्हा करना प्रतिक्रमण है।

प्रत्याख्यान—मन वचन कायकी शुद्धता पूर्वक पाप के कारण ऐसे नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, क्षेत्र, काल इन छहोंका सर्वथा त्याग कर देना तथा आगामी काल के लिये त्याग कर देना और नियम कर लेना कि मैं अशुभ नाम स्थापना आदि को न कभी करूंगा, न वचन से कहूँगा और न मन से चिंतवन करूंगा, न

कराऊंगा, न अनुमोदना करूंगा। इस प्रकार के त्याग को प्रत्याख्यान कहते हैं।

व्युत्सर्ग—मुनिराज दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक की क्रियाओं में नियत समय तक सत्ताईस श्वासोच्छ्वास तक या एकसौ आठ श्वासोच्छ्वास तक अपने शरीर से ममत्व का त्याग कर देते हैं और उस समय भगवान जिनेन्द्र देवके गुणों का चिंतवन करते हैं अथवा सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, धर्म्यध्यान, शुक्लध्यान आदिका चिंतवन करते हैं। इस प्रकार शरीर से ममत्व के त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं।

इस प्रकार वे छह आवश्यक हैं। इनको मुनिराज प्रतिदिन अवश्य पालन करते हैं।

केशलोंच—केशलोंच का अर्थ बालों को उखाड फेंकना है। मुनिराज बालों को न बढाते हैं न बनवाते हैं। यदि वे बढाते हैं तो अनेक जंतु पडजाते हैं तथा मर जाते हैं इसी जंतु बाधा के डर से वे बालों को बढाते नहीं हैं। यदि वे बालों को बनवावें तो उन्हें याचना करनी पडती है। परन्तु मुनि लोग याचना के सर्वथा त्यागी होते हैं। इसलिये वे किसी से याचना नहीं करते और न बालों को बनवाते हैं। वे मुनिराज उत्कृष्ट दो महीना बाद, मध्यम तीन महीने के बाद और जघन्य चार महीने के बाद अवश्य केश लोंच करते हैं। दाडी, मूछ और मस्तकों के बालों का लोंच करते हैं। कांख और नीचे के बालों का लोंच नहीं करते, तथा इन दोनों स्थान के बाल अधिक बढते भी नहीं हैं। केशलोंच करने में

जीवों की रक्षा होती है, अयाचिकवृत्ति सिद्ध होती है और तपश्चरण की वृद्धि होती है।

नग्नता—मुनिराज वस्त्रादिक परिग्रह के सर्वथा त्यागी होते हैं। वे अपने शरीर को न वस्त्र से ढकते हैं, न पत्तों से ढकते हैं, न किसी छाल से ढकते हैं और न चमडा आदि अन्य किसी पदार्थ से ढकते हैं। इसके सिवाय आभूपण वस्त्र आदि सब के सर्वथा त्यागी होते हैं। इस प्रकार वे मुनिराज दिगम्बर अवस्था धारण कर जगत पूज्य माने जाते हैं।

अस्नान व्रत—मुनिराज स्नान के सर्वथा त्यागी होते हैं। स्नान करने से जलकायिक जीवों का घात होता है तथा त्रस जीवों का घात होता है। इसलिये शरीर में पसीना आदिका मल हो जाने पर भी वे मुनि कभी स्नान नहीं करते।

भूशयन—वे मुनिराज प्रासुक भूमि पर शयन करते हैं। जिस भूमि पर कोई जीव जंतु न हो ऐसी भूमि पर शयन करते हैं। अथवा काठ के तख्ते पर, तृण या घास की बनी शय्यापर, विना कुछ विछाये पैर संकुचित कर रात्रि में थोडा शयन करते हैं।

अदंतधावन व्रत—मुनिराज दंत धावन नहीं करते। दंत धावन में भी जीवों का घात होता है इसलिये वे उंगली से, नखसे, दतौनसे, किसी तृणसे, पापाण या छाल से किसी से भी दंत-धावन नहीं करते और इस प्रकार वे इन्द्रिय संयम का पालन करते हैं।

स्थितभोजन—भोजन करते समय वे मुनिराज समान भूमिपर या पाटा पर चार अंगुल के अंतर से दोनों पैरों को रखकर खडे

होते हैं तथा दोनों हाथों को मिलाकर, अंगुलियों का बंधन कर, करपात्र आहार लेते हैं। जब तक खडे होने की शक्ति है तब तक ही आहार लेते हैं; यही खडे होकर आहार लेने का अभिप्राय है।

एकभुक्त—वे मुनिराज सूर्य उदय होने के तीन घडी बाद और सूय अस्त होने के तीन घड़ी पहले मध्याह्न में सामायिक के काल को छोडकर शेष किसी भी समय में एक ही बार आहार लेतें हैं।

इस प्रकार मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण हैं। इन्हीं मूलगुणों में बारह प्रकार का तपश्चरण आजाता है और तीनों गुप्तियां आजाती हैं।

अठारह हजार शील के भेद

मन वचन काय इन तीनों योगों को वश में करना, मन वचन कायकी अशुभ क्रियाओं का सर्वथा त्याग करना, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह इन चारों संज्ञाओं का, आहारादिक की अभिलाषा का सर्वथा त्याग करना, पांचों इन्द्रियों को वश में करना, पृथ्वी कायिक, जलकायिक अग्निकायिक, वायुकायिक, साधारण वनस्पति, प्रत्येक वनस्पति, दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय चौ इन्द्रिय, पंचेन्द्रिय इन दश प्रकार के जीवों की रक्षा करना और उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन दश धर्मों का पालन करना। ये सब मुनियों के कर्त्तव्य हैं। इन्हीं को परस्पर गुणा करने से अठारह हजार भेद हो जाते हैं।

यथा ३×३×४×५×१०×१०×=१८००० । इनको मुनिराज यथासाध्य यथाशक्ति पालन करते हैं ।

चौरासी लाख योनियों के भेद *

नित्य निगोद की	सात लाख
इतर निगोद की	सात लाख
पृथ्वी कायिक की	सात लाख
अपकायिक की	सात लाख
वायु कायिक की	सात लाख
अग्नि कायिक की	सात लाख
दो इन्द्रिय	दो लाख
ते इन्द्रिय	दो लाख
चौ इन्द्रिय	दो लाख
वनस्पति	दस लाख
देव	चार लाख
नारकी	चार लाख
तिर्यंच	चार लाख
मनुष्य	चौदह लाख

विकल चारित्र

ऊपर जो कुछ सकल चारित्र का निरूपण किया है उसका एक देश पालन करना विकल चारित्र है। इस विकल चारित्र का

* चौरासी लाख उत्तरगुणों का नष्टोद्दिष्ट का नकशा अलग साथ में लगा हुआ है।

सो सब से पहले सम्यग्दर्शन धारण करने की आवश्यकता है।

जिस समय दीपक जलाया जाता है उसी समय उसका प्रकाश प्रकट हो जाता है। यद्यपि प्रकाश दीपक से होता है, प्रकाश कार्य

है और दीपक उसका कारण है तथापि वे दोनों साथ ही साथ उत्पन्न होते हैं। उसी प्रकार सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान प्रकट हो जाता है। यद्यपि सम्यग्ज्ञान कार्य है, सम्यग्दर्शन उसका कारण है तथापि वे दोनों साथ साथ प्रकट होते हैं। इसका भी कारण यह है कि ज्ञान आत्मा का गुण है, वह तो सदा काल आत्मा के साथ रहता है। जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता तबतक वह ज्ञान मिथ्या ज्ञान कहलाता है। जब सम्यग्दर्शन प्रकट हो जाता है तब वही मिथ्याज्ञान सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है। इसलिये सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है तथा दोनों साथ साथ उत्पन्न होते हैं।

यह बात पहले बता चुके हैं कि आत्मदर्शन को सम्यग्दर्शन और आत्म-ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहते हैं। जब तक आत्म ज्ञान नहीं होता तब तक वह मिथ्याज्ञान ही कहलाता है। मिथ्या ज्ञान चाहे जितना ऊंचा, समस्त भौतिक पदार्थों को जानता हो तथापि वह मिथ्याज्ञान ही कहलाता है। वर्त्तमान में जितना विज्ञान है वह सब आत्मज्ञान से रहित है इसलिये वह मिथ्याज्ञान ही है।

जिस श्रावकके सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो जाता है वह श्रावक सबसे पहले मूलगुण धारण करता है। जिस प्रकार मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण बतलाये हैं उसी प्रकार श्रावकों के आठ मूल गुण हैं, और वे नीचे लिखे अनुसार हैं।

श्रावकों के मूलगुण

श्रावकों के मूलगुण आठ हैं और वे इस प्रकार हैं: मद्यका त्याग, मांसका त्याग, शहद का त्याग, रात्रि-भोजनका त्याग, पांच उदंबर का त्याग, पंच परमेष्ठीको नमस्कार करना, जीवदया, और पानी छान कर पीना।

१-मद्य का त्याग—महुआ गुड आदि अनेक पदार्थों के सडने से मद्य तैयार होता है। जिस समय ये पदार्थ सडते हैं उस समय उनमें असंख्यात जीव उत्पन्न हो जाते हैं। तदनंतर उनका अर्क खींचलेते हैं उसीको मद्य कहते हैं। अर्क खींचते समय उन सब जीवों के शरीर का अर्क आजाता है। तथा जिसमें शरीर के रुधिर मांस का अर्क आजाता है उसमें रुधिर मांस का संबंध होने से प्रत्येक समय में असंख्यात जीव उत्पन्न होते रहते हैं तथा मरते रहते हैं। इस प्रकार मद्यका स्पर्श करने मात्र से असख्यात जीवों का घात होता है, इसके सिवाय मद्य के सेवन करने से आत्माके गुणों का घात होता है। ज्ञान नष्ट हो जाता है, कुछ को कुछ कहने लगता है, स्त्रीको माता और माताको स्त्री समझने लगता है, नालियों में, सडकों पर गिरता पडता रहता है, सब लोग उसे धिक्कार देते हैं तथा उसके शरीरका स्वास्थ्य सब नष्ट हो जाता है। इसीलिये श्रावक लोग इस मद्यका सर्वथा त्याग कर देते हैं। मद्य पीने वाला पुरुष धर्म कर्म सब भूल जाता है, फिर भला वह मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त कैसे होसकता है? इसलिये मद्यका त्याग करना ही आत्माका कल्याण करनेवाला है।

२-मांसका त्याग—विना जीवका घात किये मांस उत्पन्न नहीं हो सकता। तथा जिसका मांस होता है उसमें उसी जाति के अनंत जीव उत्पन्न होते रहते हैं तथा मरते रहते हैं। मांस चाहे कच्चा हो चाहे पक्का हो, चाहे पक रहा हो प्रत्येक अवस्था में तथा प्रत्येक समय में उसमें जीव उत्पन्न होते रहते हैं। इसके सिवाय जो मांस भक्षण करता है उसके परिणाम सदा क्रूर रहते हैं वह किसी भी जीव की रक्षा नहीं कर सकता। उसके परिणामों में कभी दया उत्पन्न नहीं हो सकती। ऐसी अवस्थामें न तो उसके सम्यग्दर्शन हो सकता है और न वह मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो सकता है। इस लिये मांसका सर्वथा त्याग कर देना ही आत्माका कल्याण करने वाला है।

शहदका त्याग—शहदकी मक्खियां फूलों का रस चूस ले जाती हैं, कुछ समय तक उनके पेट में उस रसका परिपाक होता है। परिपाक होने के अनंतर जब शहद बन जाता है तब मक्खियां उसे उगलकर अपने छत्ते में रख लेती हैं उसीको शहद कहते हैं। इस प्रकार वह शहद प्रथम तो मक्खियों का उगाल है तथा पेट में परिपाक होने के अनंतर जो उगाल होता है उसमें प्रत्येक समय जीव उत्पन्न होते रहते हैं। इसीलिये शहदका स्पर्श करने मात्र से भी उन जीवोंका घात होता है फिर खाने की तो बात ही क्या है। इसलिये शहद का भक्षण करना मांस-भक्षण के समान है। अतः इसका सर्वथा त्याग कर देना ही आत्माका कल्याण करने वाला है।

रात्रि-भोजन-त्याग—डांस मच्छर पतंगा आदि अनेक जीव रात्रि में ही निकलते हैं, जो रात्रि में किसी प्रकार दिखाई नहीं पड़ सकते। यदि रात्रिमें अधिक प्रकाश किया जाय तो वे जीव प्रकाश को देखकर और अधिक मात्रा में आते हैं और वे प्रकाशपर तथा भोजन में बहुत अधिक मात्रा में गिर पडते हैं। उनमें से बहुत से जीव ऐसे होते हैं जो दिखाई तक नहीं पडते, यदि समुदाय रूप से दिखाई भी पड जांय तो वे भोजन में से कभी किसी प्रकार भी अलग नहीं किये जा सकते। उन जीवों में अनेक जीव विषैले भी होते हैं जो भोजनमें मिलकर पेट में चले जाते हैं तथा अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न कर देते हैं। जो श्रावक सम्यग्दृष्टी होता है और जोव दयाको पालन करता है, वह कभी भी रात्रि में भोजन नहीं कर सकता। इसके सिवाय रात्रि भोजन स्वास्थ्य के लिये भी अत्यंत हानिकर है। दिनमें खालेने से सोते समय तक उसका परिपाक हो जाता है तथा सोते समय पचाने वाले यंत्रों को भी अवकाश मिल जाता है। इसलिये रात्रि भोजनका त्याग कर देना इस लोक और परलोक दोनों लोकों में कल्याण करने वाला है।

पांचों उदंबरोंका त्याग—पीपरका फल, बडका फल, गूलर, पाकर और अंजीर ये पांच उदंबर फल कहलाते हैं। इन फलों के भीतर अनेक उडने वाले त्रस जीव रहते हैं, तथा अनेक सूक्ष्म जीव रहते हैं। इनके भक्षण करने से वे सब जीव मर जाते हैं और पेट में चले जाते हैं। इसलिये इन फलोंका भक्षण करना

मांस-भक्षण के समान है। फिर भला दयालु सम्यग्दृष्टी इन फलों को भक्षण कैसे कर सकता है? किसी भी दयालु पुरुष को इनका भक्षण नहीं करना चाहिये। इसलिये इनका त्याग कर देना ही आत्मा का कल्याण करने वाला है।

पांचों परमेष्ठियों को नमस्कार करना:—पांचों परमेष्ठियों का स्वरूप सम्यग्दर्शन के प्रकरण में बतला चुके हैं। अरहंत सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु ये पांच परमेष्ठी कहलाते हैं, तथा इन पांचों परमेष्ठियों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन बतलाया है। सम्यग्दर्शन के अनंतर ही मूलगुण धारण किये जाते हैं। इसलिये मूलगुणों को धारण करने वाला इन पांचों परमेष्ठियों का श्रद्धान करता है, उनको प्रतिदिन नमस्कार करता है. प्रतिदिन उनकी भक्ति करता है, प्रतिदिन उनकी पूजा करता है और प्रतिदिन उनकी स्तुति करता है। सम्यग्दृष्टि श्रावक उन पंच परमेष्ठी की प्रतिमा के दर्शन किये विना उनकी भक्ति स्तुति पूजा आदि किये विना कभी भोजन नहीं करलेता है। जो गृहस्थ देव दर्शन किये विना भोजन कर लेता है वह कभो भी पांचों परमेष्ठियों का श्रद्धानी वा सम्यग्दृष्टी वा जैन धर्म को पालन करने वाला नहीं कहा जासकता। इसलिये श्रावक के लिये देव दर्शन करना और उनकी भक्ति स्तुति पूजा आदि करना अत्यावश्यक है।

जीवदया—सम्यग्दृष्टी पुरुष आत्म-तत्त्वका श्रद्धान करने वाला और उसके यथार्थ स्वरूप को जानने वाला होता है। तथा वह

अपने आत्माके ही समान समस्त जीवों को समझता है। इसके सिवाये वह यह भी समझता है कि जिस प्रकार दुःख देने पर मुझे दुःख होता है उसी प्रकार छोटे बड़े समस्त जीवों को दुःख होता है, क्योंकि आत्मा समस्त जीवों का समान है। इसलिये जैसे मैं अपने आत्मा की रक्षा करता हूँ उसी प्रकार मुझे अन्य जीवों की रक्षा करनी चाहिये। यही समझकर वह समस्त जीवों पर दया भाव रखता है। इसके सिवाय वह श्रावक भगवान जिनेन्द्र देव के कहे हुए शास्त्रों पर भी श्रद्धान रखता है तथा उन शास्त्रों में जो जीवस्थान, जीवों के उत्पन्न होने के स्थान आदि बतलाये हैं उनको भी मानता है। इसलिये वह पृथ्वी जल अग्नि वायु वनस्पति दो-इन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेन्द्रिय आदि समस्त जीवों की जातियों को मानता है। इसलिये वह समस्त जीवों पर दया भाव रखता हुआ सबकी रक्षा करने में तत्पर रहता है।

पानी छानकर पीना व काम में लाना:—

पानी में दो प्रकार के जीव रहते हैं, एक त्रस और दूसरे स्थावर। अडतालीस अंगुल लंबे तथा छत्तीस अंगुल चौडे मोटे कपडे को दुहराकर किसी वर्तन के मुख पर रखकर पानी छानना चाहिये तथा उसकी जीवानी उसी पानी में डाल देनी चाहिये जहां से वह पानी आया है। इस प्रकार छानने से उसके त्रस जीव उसी पानी में पहुँच जाते हैं जहां से वह पानी आया है और छना हुआ पानी त्रस रहित हो जाता है। श्रावकों को ऐसा ही छना पानी

पीना चाहिये और ऐसा ही पानी नहाने धोने के काममें लाना चाहिये।

इस प्रकार ये आठ मूलगुण हैं। श्रावक इनको अवश्य पालन करते हैं। बिना इनको पालन किये कोई भी गृहस्थ श्रावक नहीं कहला सकता। इन मूलगुणों के साथ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य होता है। यदि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के साथ ये पालन किये जाँय तो ये मूलगुण कहलाते हैं। यदि बिना सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान के पालन किये जाय तो इनको कुलधर्म कहते हैं। कुल शब्दका अर्थ ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों का उत्तम कुल है तथा ऐसे उत्तम कुलों में स्वाभाविक रीति से इनका पालन होता है। इसीलिये इनको कुल धर्म कहते हैं। जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य होकर भी मद्य मांस मधुका सेवन करते हैं पंच उदंबरों का सेवन करते हैं रात्रि भोजन करते हैं पानी छान कर नहीं पीते वे वर्ण-भ्रष्ट वा कुल भ्रष्ट समझे जाते हैं। इस प्रकार श्रावकों के मूलगुणों का निरूपण किया।

आवश्यक

जो अवश्य किये जाँय उनको आवश्यक कहते हैं जिस प्रकार मुनियों के छह आवश्यक हैं उसी प्रकार श्रावको के भी छह आवश्यक हैं और वे इस प्रकार हैं:—देव पूजा करना, गुरुकी उपासना करना, स्वाध्याय करना, संयम पालन करना, तप करना और दान देना। आगे संक्षेप से इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

देव पूजा—भगवान जिनेन्द्र देवको देव कहते हैं। उनकी पूजा करना देव पूजा है। श्रावक का कर्त्तव्य है कि प्रातःकाल उठ कर वह सामायिक करे। सामायिक का स्वरूप आगे लिखेंगे। सामायिक के अनंतर आवश्यक कार्यों से निबटकर मुखशुद्धि शरीर शुद्धि कर शुद्ध वस्त्र पहनकर सामग्री लेकर जिनालय में जाना चाहिये। जिनालय में पैर धोकर ही जाना चाहिये। जाते समय "णिसही णिसही" कहना चाहिये। यह जिनालय में आने के लिये शासन देवकी आज्ञा लेने का मंत्र है। फिर भगवान की प्रदक्षिणा देकर नमस्कार कर स्तुतिकर भगवान की पूजा प्रारंभ करनी चाहिये। सबसे पहले भगवानका पंचामृत अभिषेक करना चाहिये पंचामृत में दूध दही घी गंधोदक जल है। तदनंतर कोण कलश तथा पूर्ण कुंभ से अभिषेक करना चाहिये। उस अभिषेक को नमस्कार कर मस्तक पर धारण करना चाहिये। भगवान के चरणों में चंदन चर्चना चाहिये फिर आह्वानन स्थापन सन्निधिकरण कर पूजा करना चाहिये। अंत में शांतिधारा पाठ पढकर विसर्जन करना चाहिये। फिर तीन प्रदक्षिणा देकर तीनबार नमस्कार करना चाहिये। यथासाध्य स्तुति और जप करना चाहिये। इस प्रकार पूजाका कार्य समाप्त करना चाहिये। यह पूजा अष्टद्रव्य से की जाती है। अष्टद्रव्य में जल झारी से तीनधारा देकर चढाना चाहिये। चन्दन भगवान के चरणों पर लगाना चाहिये, अक्षत के पुंज रखने चाहिये, अनेक वर्णो के सुगंधित पुष्प चढाने चाहिये, नैवेद्य चढाना चाहिये, दीपकसे आरती उतारनी चाहिये, धूप

अग्नि में खेकर उसका धूंआ दांये हाथ से भगवान की ओर करना चाहिये, अनेक प्रकारके ताजे फलों से पूजा करनी चाहिये और अंत में सब द्रव्यों का समुदाय रूप अर्घ्य बनाकर चढ़ाना चाहिये। संध्याकाल के समय दीपक से आरती उतार कर धूप खेनी चाहिये। संध्याकाल के समय भी सामायिक करना चाहिये। इस प्रकार संक्षेपसे देवपूजा बतलाई। विशेष पूजाके भेद व स्वरूप श्रावकाचारों से समझलेना चाहिये।

गुरुकी उपासना—प्रातः कालके समय मुनिराज प्रायः जिनालय में विराजमान होते हैं। पूजा के अनंतर उनकी वंदना करनी चाहिये। तीन प्रदक्षिणा देकर तीनवार नमोस्तु कहकर तीनवार नमस्कार करना चाहिये, उनकी शरीर कुशल पूछकर जो कुछ सेवा हो करनी चाहिये, अष्ट द्रव्य से पूजा करनी चाहिये और जो कुछ धर्म कृत्य पूछना हो पूछना चाहिये। यदि मुनिराज गांव के बाहर हों तो वहां जाकर उनकी पूजा वंदना करनी चाहिये।

स्वाध्याय—गुरूपासना के अनंतर श्रावकों को स्वाध्यायशाला में जाना चाहिये। यदि वहां पर शास्त्र-प्रवचन हो रहा हो तो सुनना चाहिये। अथवा स्वाध्याय के लिये नियमित ग्रंथ का मनन-पूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये, जो विषय समझमें न आवें उन्हें वृद्ध जानकारों से पूछना चाहिये। इसके सिवाय स्वाध्याय शालामें जो श्रावक हों उनसे धर्मानुराग पूर्वक जुहारु कहना चाहिये सबकी क्षेम कुशल पूछनी चाहिये और अनेक प्रकार से सबको तृप्त करना चाहिये। इस प्रकार वात्सल्य अंग का पालन करना चाहिये।

संयम—प्रतिदिन इन्द्रिय-दमन के लिये कुछ न कुछ त्याग करना संयम है। भोगोपभोग की सामग्री में से जो कुछ बन पडे उसका त्याग करना चाहिये। भोजन के अभक्ष्य भक्षण का त्याग करना चाहिये तथा और भी त्याग करने योग्य पदार्थों का त्याग करना चाहिये।

तप—उपवास करना, नियमित आहार से कम आहार लेना, किसी रसका त्याग कर देना, तप है। गृहस्थ श्रावक इन तपों को सरलता पूर्वक कर सकते हैं। तपका स्वरूप पीछे बतलाया है उनमें से यथासाध्य यथाशक्ति जो बन पडे वह करना चाहिये।

दान—श्रावक लोग जो कुछ धन कमाते हैं वह कितना ही प्रयत्न पूर्वक कमाया जाय तथापि उसमें हिंसादिक पाप अवश्य होते हैं। उन पापों को शांत वा दूर करने के लिये श्रावकों को योग्य पात्र के लिये दान अवश्य देना चाहिये। पात्र तीन प्रकार के हैं-पात्र, कुपात्र और अपात्र। तथा पात्र भी उत्तम, मध्यम, जघन्य के भेद से तीन प्रकार हैं। उत्तम पात्र मुनि हैं, मध्यम पात्र व्रती श्रावक हैं और जघन्य पात्र अव्रत सम्यग्दृष्टी श्रावक हैं। मिथ्यादृष्टी व्रती कुपात्र हैं और व्रत रहित मिथ्यादृष्टी अपात्र है। इनमें से दान देने योग्य पात्र ही हैं। कुपात्र अपात्रों को दान देना व्यर्थ है।

श्रावक को उचित है कि वह भोजन तैयार हो जाय तब किसी भी उत्तम पात्र वा मुनि को पडगाहन करने के लिये द्वारपर खडा रहे, और जब कोई मुनि चर्या के लिये आरहे हों तो सामने आने

पर उनसे प्रार्थना कर उनको पडगाहन करे तथा एपणा समिति में कहे अनुसार उनको विधिपूर्वक आहार दे। इसके सिवाय मुनियों के लिये आवश्यकतानुसार पीछी कमण्डलु शास्त्र दे, उनके लिये वसतिका का निर्माण करावे तथा आवश्यक हो तो आहार के साथ शुद्ध प्रासुक औषधि दे। यदि आहार के लिये कोई मुनि न मिलें तो किसी भी श्रावक को बुलाकर आहार करावे। इसके सिवाय अपनी कीर्ति के लिये औषधालय दानशाला खुलवानी चाहिये, भूखे मनुष्यों को अन्नदान देना चाहिये, अर्जिकाओं को, क्षुल्लकों को ब्रह्मचारियों को वस्त्रादिक देना चाहिये, किसी साधर्मी श्रावक को रुपये पैसे की आवश्यकता हो तो वह भी देना चाहिये। जिसमें धर्म की वृद्धि हो और किसी का दुःख दूर होता हो ऐसे धर्म वे अविरुद्ध निर्दोष पदार्थ दान में देने चाहिये।

वास्तवमें देखा जाय तो इस समय में भगवान जिनेन्द्र देवकी पूजा करना और दान देना ये दोनों ही श्रावकों के मुख्य कर्त्तव्य हैं। तथा ये दोनों ही विधि पूर्वक होने चाहिये। इस प्रकार अत्यंत संक्षेप से श्रावकों के छहों आवश्यकों का निरूपण किया।

श्रावकों के व्रत

अब आगे श्रावकों के व्रत वतलाते हैं। श्रावकों के वारह व्रत हैं और वे श्रावकों के उत्तरगुण कहलाते हैं। वारह व्रतों के नाम इस प्रकार हैं:-पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। आगे संक्षेप से इनका स्वरूप वतलाते हैं।

अणुव्रत

जिस प्रकार मुनियों के पांच महाव्रत बतलाये हैं उसी प्रकार श्रावकों के पांच अणुव्रत हैं। अहिंसा-अणुव्रत, सत्य-अणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणाणुव्रत, ये पांच उन अणुव्रतों के नाम हैं। मुनियों के व्रतों में और श्रावकों के व्रतों में इतना ही अन्तर है कि मुनियों के व्रत पूर्ण रूप से होते हैं। मुनिराज मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से समस्त पापोंका त्याग कर देते हैं। तथा श्रावक लोग त्रस जीवों की हिंसा का त्याग करते हैं और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग यथा साध्य यथाशक्ति करते हैं। इसके सिवाय मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना के द्वारा त्याग करने में किसी किसी को छोड देते हैं। कोई पाप अनुमोदना से त्याग नहीं किया जाता और कोई पाप मनसे भी त्याग नहीं किया जाता। इस प्रकार श्रावकों का त्याग विकल्प रूप से होता है।

अहिंसा-अणुव्रत—हिंसा का एक देश त्याग करदेना अहिंसाणुव्रत है। इसका अभिप्राय यह है कि संसारी प्राणी दो प्रकार के होते हैं। एक त्रस, दूसरे स्थावर। दोइन्द्रिय तेइन्द्रिय चौइन्द्रिय पंचेइन्द्रिय जीवों को त्रस कहते हैं। ये सब जीव प्रायः चलते फिरते दिखाई पडते हैं। तथा एकेन्द्रिय जीवों को स्थावर कहते हैं। पृथ्वी कायिक, जलकायिक, अग्नि कायिक, वायुकायिक और वनस्पति कायिक ये सब स्थावर कहलाते हैं। इनमें से अहिंसाणुव्रत को

धारण करने वाला श्रावक त्रस जीवों की हिंसा का सर्वथा त्यागी होता है और स्थावर जीवों की हिंसा का त्याग यथासाध्य करता है। गृहस्थ श्रावकको पृथ्वी भी खोदनी पडती है, जल भी काम में लेना पडता है, अग्नि भी काम में लेनी पडती है, वायु से भी काम लेता है और वनस्पति भी काम में लाता है। इसलिये इन जीवों की हिंसा का त्याग उससे हो नहीं सकता। तथापि अपनी आवश्यकतानुसार ही इनको काम में लाता है, अधिक नहीं। त्रस जीवों की हिंसाका त्याग वह सर्वथा कर देता है।

यहां पर इतना और समझलेना चाहिये कि हिंसा चार प्रकार की है। संकल्पी, आरंभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा। ‘मैं इस जीवको मारूंगा” इस प्रकार संकल्प पूर्वक जो हिंसा की जाती है उसको संकल्पी हिंसा कहते हैं। इस प्रकार संकल्प पूर्वक हिंसा करना सबसे बड़ा पाप है, क्योंकि वह जान बूझकर हृदय से की जाती है। श्रावक लोग इस संकल्पी हिंसा का त्याग मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से करते हैं। श्रावक लोग ऐसी संकल्पी हिंसा मन से वचन से और काय से न करते हैं न कराते हैं और न उसकी अनुमोदना करते हैं। त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा का त्याग श्रावक लोग सर्वथा कर देते हैं यही उनका अहिंसाणुव्रत है।

श्रावक लोग जो चक्की उखली चूल्हा बुहारी पानी रसोई आदि में हिंसा करते हैं वह आरंभी हिंसा कहलाती है। व्यापार आदि में जो हिंसा होती है वह उद्योगी हिंसा कहलाती है और किसी के

विरोध करने में जो हिंसा वा दुष्परिणाम होते हैं वह विरोधी हिंसा कहलाती है। इन तीनों प्रकार की हिंसा का त्याग श्रावक से पूर्ण रूप से नहीं होता। श्रावक लोग इन कामों को प्रयत्न पूर्वक यत्नाचार पूर्वक करते हैं और इसीलिये इनका यथासाध्य त्याग होता है।

इस अहिंसाणुव्रत के वध, बंधन, छेद अतिभारारोपण अन्न पान निरोध ये पांच अतिचार हैं। पशुओं को मारना वा दासी दासोंको मारना (लात थप्पड से मारना वंध है। पशुओं को बांधना बंधन है। पशुओं को इस प्रकार बांधना चाहिये कि जिससे अग्नि आदिके लगने पर वे स्वयं छूटकर भाग जाय। नाक कान छेदना छेद है। पशु वा मनुष्य जितना बोझा ले जासकते हैं उससे अधिक लाद देना अतिभारारोपण है और समय पर खाना पीना न देना अन्नपान निरोध है। ये पांच अहिंसाणुव्रत के अतिचार वा दोष हैं। अहिंसा-अणुव्रतको धारण करने वाला श्रावक इन दोषों का भी त्यागकर देता है। तथा इस प्रकार निर्दोष अहिंसाणुव्रतका पालन करता है।

वास्तव में देखाजाय तो पुण्य पाप सब अपने परिणामों से उत्पन्न होते हैं। यदि अपने परिणाम किसी की हिंसा करने के हो जाते हैं तो दूसरे की हिंसा हो वा न हो, हिंसा रूप परिणाम होने से उसको हिंसा जन्य पाप अवश्य लग जाता है। इसका भी कारण यह है कि राग द्वेष वा हिंसा आदि पाप रूप परिणाम होने से अपने आत्माका घात तो उसी समय हो जाता है। तथा आत्म-घात

होना सबसे बड़ा पाप है। इसीलिये आचार्यों ने हिंसा का लक्षण राग द्वेष रूप परिणामों को होना बतलाया है। अहिंसा का लक्षण राग द्वेष आदि परिणामों का न होना बतलाया है। हिंसा के मूल कारण राग द्वेष हैं और राग द्वेष का न होना अहिंसा है।

कोई डाक्टर किसी फोडाको अच्छा करने के लिये उसमें चीरा लगाता है, उस डाक्टर का परिणाम अच्छा करने का है, मारने का नहीं। ऐसी अवस्थामें यदि वह रोगी मर भी जाय तो भी उस डाक्टर को हिंसाका पाप नहीं लगता। यदि कोई मनुष्य किसी के मारने के परिणाम करता है तो उसको हिंसाका पाप अवश्य लग जाता है चाहे वह उसके मारने के प्रयत्न से ही बच जाय।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि परिणामों में जैसी तीव्रता वा मंदता होती है वैसा ही पाप उनको लगता है। तीव्र परिणामें से तीव्र पाप लगता हैं और मंद परिणामों से मंद पाप लगता है।

मानलो कि किसी जीवको चार पांच आदमियों ने मिलकर मारा। उनमें से जिसके मारने के तीव्र परिणाम होंगे उसको तीव्र पाप लगेगा और जिसके मंद परिणाम होंगे उसको थोड़ा पाप लगेगा। यदि उनमें से किसी के परिणाम उसको बचाने के होंगे तो उसे वह पाप नहीं लगेगा।

कोई एक आदमी किसी जीवको मारडालता है और उसको परोक्ष सहायता अनेक मनुष्य करते हैं वा उसकी अनुमोदना

अनेक मनुष्य करते हैं तो उन सबको पाप लगेगा। इस प्रकार हिंसक एक होने पर भी पाप अनेक जीवों को लगता है।

युद्ध राजाकी आज्ञा से होता है उसमें अनेक प्राणी हिंसा करते हैं तथा राजा घर ही बैठा रहता है। तो भी समस्त पाप का भागी राजा होता है। हां अपने अपने परिणामों के अनुसार योद्धा भी होते हैं। इस प्रकार अनेक जीवों के द्वारा होने वाली हिंसाका भागी एक एक ही जीव होता है।

हिंसा के परिणाम होने पर यदि वह उस जीवको न मारसके तो भी उसको पाप लग ही जाता है तथा ऊपर लिखे डाक्टर के परिणामों के अनुसार हिंसा हो जाने पर भी हिंसा के परिणाम न होने से पाप नहीं लगता।

इन सब बातों को समझकर तथा हिंसा, हिंस्य, हिंसक और हिंसाका फल इन सब बातों को समझकर हिंसाका सर्वथा त्यागकर देना ही आत्माका कल्याण करने वाला है।

हिंसाका पूर्ण त्याग मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से होता है। मन से करना, वचन से करना, कायसे करना, मन से वचन से काय से कराना और मनसे वचन से काय से अनुमोदना करना, इस प्रकार इनके नौ भेद हो जाते हैं। इन नौसे त्याग करना पूर्ण त्याग है। तथा एक से दो से तीन से चार से पांच से छह से सात से आठ से त्याग करना एक देश त्याग है। अथवा मन १, वचन २, काय ३, मन वचन ४, मन काय ५,

वचन काय ६, मन वचन काय ७, इस प्रकार मन-वचन-काय के सात भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार कृत कारित अनुमोदना के सात भेद हो जाते हैं। तथा इन सबके उनचास भेद हो जाते हैं। इन सबसे त्याग करना पूर्ण त्याग है और एक से लेकर अड़तालीस तक से त्याग करना एक देश त्याग है। इन उनचास भेदों को कोष्टक से समझ लेना चाहिये।

मुख्य बात यह समझ लेना चाहिये कि पापों के करने में मुख्य कारण परिणाम हैं, यदि हिंसा करने के परिणाम हो जाते हैं तो फिर यदि हिंसा न भी हो सके तो भी पाप लग ही जाता है। इसी प्रकार बिना परिणामों के केवल प्रमाद से होने वाली हिंसा का फल अधिक रूप से नहीं मिलता। इसीलिये आचार्यों ने राग द्वेप का उत्पन्न होना ही हिंसा बतलाई है। उस राग द्वेप से चाहे अन्य किसी जीवको बाधा न भी पहुँचे तथापि उस राग द्वेप से अपने आत्मा का घात अवश्य हो जाता है। क्योंकि राग द्वेप से आत्मा की शुद्धता नष्ट हो जाती है और आत्मा की शुद्धता को नष्ट करना ही हिंसा है। राग द्वेप जितने कम होते हैं उतना ही कम पाप लगता है और राग द्वेप जितने तीव्र होते हैं उतना ही तीव्र पाप लगता है। इसका विशेष वर्णन पुरुषार्थ सिद्धयुपाय आदि ग्रंथों से जान लेना चाहिये।

सत्याणुव्रत—राग द्वेप पूर्वक किसी जीवको दुःख पहुँचाने की भावना से न तो स्वयं मिथ्याभाषण करना न दूसरे से कराना सत्याणुव्रत है। सत्याणुव्रत को धारण करने वाला पुरुष अहिंसाणु

पेज नं० ११२ के मेटर का कोष्टक—

मन कृत	वचन कृत	काय कृत	मन वचन कृत	मन काय कृत	वचन काय कृत	मन वचन काय कृत
मन कारित	वचन कारित	काय कारित	मन वचन कारित	मन काय कारित	वचन काय कारित	मन वचन काय कारित
मन अनुमोदित	वचन अनुमोदित	काय अनुमोदित	मन वचन अनुमोदित	मन काय अनुमोदित	वचन काय अनुमोदित	मन वचन काय अनु०
मन कृतकारित	वचन कृतकारित	काय कृत कारित	मन वचन कृत कारित	मन काय कृत कारित	वचन काय कृत कारित	मन वचन काय कृत कारित
मन कृतानुमोदित	वचन कृत अनु	काय कृत अनुमोदित	मन वचन कृत अनु०	मन काय कृत अनु०	वचन काय कृत अनु०	मन वचन काय कृत अनु०
मन कारित अनुमोदित	वचन कारित अनुमोदित	काय कारित अनुमोदित	मन वचन कारित अनु.	मन काय कारित अनु०	वचन काय कारित अनु०	मन वचन काय कारित अनु०
मन कृत कारित अ नु०	वचन कृत कारित अनुमोदित	काय कृत कारित अनु०	मन वचन कृत कारित अनु०	मन काय कृत कारित अनु०	वचन काय कृत कारित अनु०	मन वचन काय कृत का० अनु०

व्रतको सुरक्षित रखने के लिये ही सत्यभाषण करता है। इसीलिये यदि उसके सत्य भाषण करने से किसी जीवका घात होता हो तो वह ऐसा सत्यभाषण भी नहीं करता है। मिथ्या उपदेश देना, एकांत में कही हुई वा की हुई बातों को प्रकट करना भूठे लेख लिखना, धरोहर मारना और किसी तरह भी किसी की छिपी हुई बातको जानकर प्रकट कर देना सत्याणुव्रत के दोष हैं। सत्याणुव्रती को इनका भी त्याग कर देना चाहिये।

अचौर्याणुव्रत—रागद्वेष पूर्वक किसी के बिना दिये हुए पदार्थों को लेलेना चोरी है। किसीका कोई पदार्थ रक्खा हो, गिर गया हो, कोई भूल गया हो, कैसा ही हो उसको बिना दिये हुए लेना वा उठाकर दूसरे को देना चोरी है। ऐसी चोरी का त्याग कर देना अचौर्याणुव्रत है। चौरी का प्रयोग बताना, चौरी के पदार्थों को लेना वा घरमें रखना, अधिक मूल्य के पदार्थों में कम मूल्य के पदार्थ मिला कर वेचना, तौलने के बांट, नापनेके गज वा वर्तन आदिको छोटेबडे रखना, लेने के लिये बडे और देने के छोटे रखना और राज्य के विरुद्ध लेन देन करना इस आचौर्याणुव्रत के दोष हैं। आचौर्याणुव्रत को धारण करने वाले श्रावक को इनका भी त्याग कर देना चाहिये।

ब्रह्मचर्याणुव्रत—देव शास्त्र गुरु पंच और अग्नि की साक्षी पूर्वक अपनी जाति की जिस कन्या के साथ विवाह किया है उस स्त्रीको छोड कर अन्य समस्त स्त्रियों को माता बहिन

पुत्री के समान मानना, ब्रह्मचर्याणुव्रत है। इसको स्वदार-संतोष व्रत भी कहते हैं अथवा परस्त्री-त्यागव्रत भी कहते हैं। इस स्वदार-संतोषव्रती को अपने पुत्र पुत्रियों का विवाह करना तो उसका कर्तव्य हो जाता है परन्तु दूसरे की संतान का विवाह करना दोष है। इसी प्रकार जो स्त्रियां कुलटा हैं चाहे वे विवाहित हों वा अविवाहिता हों उनके घर आना जाना उनके साथ हंसी करना भी दोष है। काम-सेवन की अधिक लालसा रखना तथा काम सेवन के अंगों से भिन्न अगों में क्रीडा करना इस व्रतके दोष हैं। स्वदार-संतोषव्रत को धारण करनेवाले श्रावकों को इनका भी त्याग करदेना चाहिये।

परिग्रह परिमाणाणुव्रत—खेत, मकान, सोना, चांदी, पशु, धान्य, दासी, दास, वर्तन, वस्त्र आदि सबको परिग्रह कहते हैं। इन सबका परिमाण कर लेना और उससे अधिक रखने की कभी इच्छा न करना—परिग्रह परिमाणाणुव्रत है। यदि सबका अलग अलग परिमाण न किया जासके तो रुपयों की संख्या में सबका इकट्ठा ही परिमाण कर लेना चाहिये। चाहे वह हजारों लाखों वा करोडोंका परिमाण क्यों न हो। घरके समस्त पदार्थ उसी परिमाण के भीतर रहने चाहिये। इस व्रत के कारण तृष्णा वा लालसा छूट जाती है। तथा तृष्णा के छूट जाने से वह श्रावक अनेक पापों से बच जाता है। पहले क्रोध मान माया लोभ आदिको भी अंतरंग परिग्रह बता चुके हैं। इसलिये श्रावकों को इनका भी यथासाध्य त्याग कर देना चाहिये। क्रोधादिक जितने कम होंगे उतने ही पापों

से वह श्रावक बच जायगा। पशुओं को अधिक जोतना, दूसरे की संपत्ति को देखकर आश्चर्य करना, अधिक लोभ करना, अधिक संग्रह करना, पशुओं को अधिक दुखी रखना और परिग्रह बढ़ाने की लालसा रखना इस व्रतके दोष हैं। परिग्रह-परिमाणाणुव्रत धारण करने वाले श्रावकों को इन दोषों का भी त्यागकर देना चाहिये।

इस प्रकार ये पांच अणुव्रत हैं। इनको धारण करने से आत्मा के राग द्वेष आदि समस्त विकार कम हो जाते हैं तथा वे श्रावक अनेक पापों से बच जाते हैं। सम्यग्दर्शन पूर्वक इन व्रतों का पालन करने से स्वर्गादिक की अनुपम विभूति प्राप्त होती है तथा परंपरा मोक्ष की प्राप्ति होती है।

गुणव्रत

जो अणुव्रतों के गुणों को बढ़ाते रहें जिनके द्वारा अहिंसा अणुव्रत वृद्धिको प्राप्त होता रहे उनको गुणव्रत कहते हैं। गुणव्रत तीन हैं। दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदंडविरतिव्रत।

दिग्व्रत—दिग् शब्दका अर्थ दिशा है। दिशा दश हैं—उत्तर, ऐशान, पूर्व, आग्नेय, दक्षिण, नैऋत, पश्चिम, वायव्य, ऊपर नीचे। जन्म भर के लिये इन दशों दिशाओं में आने जाने की मर्यादा नियत कर लेना और फिर उसके बाहर कभी न आना जाना न कभी जाने के लिये विचार करना दिग्व्रत है। इस व्रतको धारण करने से मर्यादा के बाहर स्थूल सूक्ष्म सब प्रकार के पापों का त्याग हो जाता है। मर्यादा के बाहर समस्त जीवों की हिंसाका

त्याग हो जाता है इसलिये यही व्रत मर्यादा के बाहर महाव्रत के समान माना जाता है। इसकी मर्यादा किसी प्रसिद्ध देश नदी पर्वत नगर वा नियमित योजनों तक करना चाहिये। नियत की हुई मर्यादा को उल्लंघन करना, मर्यादा की वृद्धि करना वा नियत की हुई मर्यादाको भूल जाना इस व्रतके दोष हैं। श्रावकों को कभी ये दोष नहीं लगाना चाहिये अर्थात् न तो कभी मर्यादा का उल्लंघन करना चाहिये न मर्यादा को भूलना चाहिये और न मर्यादा को कभी बढाना चाहिये।

देशव्रत—किसी नियत समय तक इसी दिग्व्रत की मर्यादा को घटा लेना देशव्रत है। यथा किसी पुरुषने अपने स्थान से एक एक हजार कोस तक दिग्व्रत की मर्यादा नियत करली फिर वह किसी पर्व के दिन उसमें से घटाकर एक एक कोस की मर्यादा रखता है वा किसी एक पर्वके दिन अपने गांवकी वा घर की ही मर्यादा रखता है तो वह उसका देशव्रत कहलाता है। इस व्रतकी मर्यादा बहुत ही कम है और इसीलिये जितने समय तक वह इस व्रतको धारण कर अल्प मर्यादा धारण करता है उतने समय तक वह मर्यादा के बाहर समस्त स्थूल सूक्ष्म जीवों की हिंसाका त्याग कर देता है। अथवा मर्यादा नियत करने पर वह त्याग स्वयं हो जाता है। इसलिये मर्यादा के बाहर उसके महाव्रत के समान हो जाता है। इस व्रत की मर्यादा किसी घर तक, खेत तक, किसी गांव तक, नदी तक, बाग बगीचा तक वा एक कोस, या दो, चार, कोस तक करनी चाहिये। तथा कालकी मर्यादा एक दिन, दो दिन, दश दिन,

महिना, चार महिना, आदिकी नियत करना चाहिये। तथा नियत समय तक मर्यादा के बाहर कभी नहीं आना जाना चाहिये। मर्यादा के बाहर से कोई पदार्थ मंगाना, वा बाहर किसी को भेजना, मर्यादा के बाहर रहने वाले किसी भी मनुष्यको किसी प्रकार का संकेत करना, ढेला पत्थर फेंकना. वा शब्द के द्वारा संकेत करना इस व्रत के दोष हैं। इस व्रत को धारण करने वालों को ये दोष कभी नहीं लगाने चाहिये।

अनर्थदंडविरति-व्रत—जिन कामों के करने में कोई प्रयोजन तो न हो और व्यर्थ ही पाप लग जाय ऐसे काम करने को अनर्थ-दंड कहते हैं। ऐसे व्यर्थ ही पाप लगाने वाले कामों का त्याग कर देना अनर्थदंड-विरति अथवा अनर्थदंडव्रत है।

यद्यपि अनर्थ दंड अनेक प्रकार के होते हैं, तथापि वे सब पांच भेदों में बट जाते हैं। वे पांच भेद इस प्रकार हैं-पापोपदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति और प्रमाद चर्या। जिस उपदेश वा कथा वार्ता को सुनकर लोग तिर्यचों को दुःख पहुंचावे वा हिंसाका व्यापार करें, वा किसी को ठगें ऐसे उपदेश वा कथा वार्ताको पापोपदेश कहते हैं। हिंसा के साधन तलवार बंदूक छुरा सांकल अग्नि आदिको दान देना हिंसादान है। ऐसे पदार्थों को लेने वाला उनसे हिंसा अवश्य करता है और देने वाला भी समझता है कि यह हिंसा का ही साधन है इसलिये उसको भी पाप अवश्य लगता है। राग वा द्वेष से किसी के पुत्र स्त्री भाई आदि के वध बंधन

आदिका चिंतवन करना, किसी का बुरा चिंतवन करना अपध्यान है। किसी का बुरा चिंतवन करने से उसका तो बुरा होता नहीं है; उसका बुरा भला होना तो उसके कर्म के उदय के आधीन है परंतु बुरा चिंतवन करने वाले को पाप अवश्य लग जाता है। राग द्वेष काम विकार मद साहस आदिको उत्पन्न करनेवाली हृदयको दूषित करने वाली पुस्तकों का पढना सुनना वा सुनाना दुःश्रुति है। ऐसी पुस्तकों के पढने सुनने से हृदय में कलुषता उत्पन्न होती है तथा हृदय कलुषित होने से पाप लगता है। बिना किसी प्रयोजन के पृथ्वी खोदना, अग्नि जलाना, वायु करना, पानी ढोलना, वनस्पति तोड़ना, इधर उधर फिरना प्रमाद चर्या है। इन कामों के करने से व्यर्थ ही पाप लगता है। इस प्रकार ये पांच अनर्थदंड हैं। इनका त्याग करना अनर्थदंड-व्रत है। भंड वचन कहना, शरीर की कुत्सित चेष्टा करना अधिक बकवास करना, बिना विचारे कोई काम करना और खाने पीने आदि पदार्थोंको अधिक परिमाण में संग्रह करना ये इस व्रतके दोष हैं। इनमें भी व्यर्थ पाप लगता है इसलिये अनर्थदंड व्रत धारण करने वालोंको इन सबका भी त्याग कर देना चाहिये। इस प्रकार संक्षेप से गुणव्रतोंका स्वरूप बतलाया।

शिक्षाव्रत

जिन व्रतों से मुनियों की शिक्षा मिले उनको शिक्षाव्रत कहते हैं। शिक्षाव्रत चार हैं:-सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथि-संविभाग।

सामायिक—किसी नियत समय तक पांचों पापों को पूर्णरूपसे त्याग कर देना सामायिक है। यह सामायिक प्रातःकाल-मध्याह्न-काल और सायंकाल तीनों समय किया जाता है। साधारण गृहस्थ श्रावकों को प्रातःकाल और सायंकाल तो अवश्य ही करना चाहिये। सामायिक खड़े वा बैठकर दोनों प्रकार से किया जाता है। यह सामायिक उपद्रव रहित किसी एकांत स्थानमें वा जिना-लयमें वा गांवके बाहर करना चाहिये। सबसे पहले प्रत्येक दिशामें तीन तीन आवर्त और एक एक नमस्कार करना चाहिये फिर पंच परमेष्ठी का ध्यान वा जप करना चाहिये। बारह अनु-प्रेक्षाओं का चिंतवन करना चाहिये और अपने मनको संकुचित कर पंच परमेष्ठी के गुणों में लगाना चाहिये। एक बारके सामा-यिक का समय, उत्कृष्ट छह घडी, मध्यम चार घडी और जघन्य दो घडी है। सामायिक करते समय यद्यपि गृहस्थ वस्त्र सहित होता है तथापि यदि वह उतने समय समस्त पापों का त्याग कर देता है और अपने मनको आत्मा वा पंच परमेष्ठी के गुणों के चिंतवनमें लगा देता है तो वह मुनि के समान माना जाता है। क्योंकि उस समय आई हुई परीषहों का भी सहन करता है और धर्म्यध्यान का चिंतवन करता है। उस समय मन वचन कायको किसी अशुभ कार्यों में लगाना, सामायिक के पाठ को वा क्रियाओं को भूलजाना और सामायिक का अनादर करना इस व्रतके दोष हैं। सामायिक में ये दोष कभी नहीं लगाने चाहिये।

प्रोपधोपवास—प्रत्येक महीने में दो अष्टमी और दो चतुर्दशी ये चार पर्वदिन कहलाते हैं। इन चारों पर्वके दिनों में उपवास वा प्रोपधोपवास करना चाहिये। प्रोपध शब्दका अर्थ एकाशन है और उपवासका अर्थ चारों प्रकारके आहारका त्याग कर देना है। प्रोपधोपवास करने वाले को एक दिन पहले और एक दिन पीछे एकाशन करना पड़ता है। जो श्रावक अष्टमी को प्रोपधोपवास करता है उसको सप्तमी के दिन एकाशन करना चाहिये अष्टमी के दिन उपवास करना चाहिये, और नौवीं को फिर एकाशन करना चाहिये। इस प्रकार दो पहर सप्तमी के चार पहर सप्तमी की रात्रि के, चार पहर अष्टमी के, चार पहर अष्टमी के रात्रि के और दो पहर नौवीं के एकाशन के पहले के, इस प्रकार सोलह पहरका उपवास हो जाता है। जो प्रोपधोपवास नहीं करता वह सप्तमी को शामको नियम ले लेता है। सप्तमी की रात्रिके चार पहर अष्टमी के चार पहर और अष्टमी की रात्रिके चार पहर, इस प्रकार वह उपवास बारह पहरका हो जाता है। यदि वह सप्तमी के शाम को नियम करना भूल जाय तो वह अष्टमी के प्रातःकाल नियम कर सकता है। ऐसा उपवास आठ पहर का होगा। जिसको उपवास करने की शक्ति न हो वह एकाशन भी कर सकता है। नियम लेने के अनंतर उसे प्रायः जिनालय में रहना चाहिये, पांचों पापों का त्याग कर देना चाहिये, स्नान, गंध माला, पुष्प अंजन आदिका त्याग कर देना चाहिये, उस दिन धर्मोपदेश देना चाहिये वा सुनना चाहिये, अथवा ज्ञान ध्यान में

लीन रहना चाहिये। प्रोपधोपवास के दिन विना देखे विना शोधे पूजन के उपकरण, शास्त्र वा अन्य कोई पदार्थ उठाना रखना उपवासका अनादर करना वा भूल जाना दोप है। उपवास करने वालों को ये दोप कभी नहीं लगाने चाहिये।

भोगोपभोगपरिमाण—भोजन पान आदि जो पदार्थ एकही वार काम में आते हैं उनको भोग कहते हैं तथा वस्त्र आभूपण आदि जो पदार्थ वार वार काममें आते हैं उनको उपभोग कहते हैं। इन सब पदार्थों का परिमाण नियत कर लेना भोगोपभोगपरिमाण व्रत है। इनमें से कुछ पदार्थ तो ऐसे हैं जिनका जन्म भर के लिये त्याग कर देना चाहिये। यथा–कंद मूल अदरक मक्खन, फूल आदि पदार्थों के सेवन करने से अनेक जीवोंका घात होता है इसलिये इनका त्याग सदा के लिये कर देना चाहिये। मद्य मांस शहद के सेवन करने से अनेक त्रस जीवोंका घात होता है इसलिये इनका तो कभी स्पर्श तक नहीं करना चाहिये। प्रमाद उत्पन्न करने वाले भांग धतूरा आदिका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। जो पदार्थ काम में आने योग्य हैं उनमें भी जो अनुपसेव्य हैं भले आदमी जिनको काम में नहीं लाते उनका त्याग कर देना चाहिये तथा जो हानिकारक अनिष्ट पदार्थ हों उनका भी त्याग कर देना चाहिये।

त्याग करने के लिये यम और नियम दो प्रकार से त्याग किया जाता है। सदा के लिये जो त्याग होता है उसको यम कहते हैं

तथा जो किसी कालकी मर्यादा लेकर त्याग किया जाता है उसको नियम कहते हैं। भोजन, शय्या, सवारी, स्नान, उवटन, पुष्प, तांबूल, वस्त्र, आभूषण, काम-सेवन, गीत, संगीत आदि पदार्थों को नियम रूपसे एक दिन दो दिन चार दिन महीना आदि के लिये त्याग करते रहना चाहिये। इन्द्रियों के विषयों की उपेक्षा न करना, अधिक लोलुपता रखना अधिक तृष्णा रखना, विषयों को बार बार स्मरण करना और उनका अनुभव करना इस व्रत के दोष हैं। व्रती श्रावकों को इन दोषों का त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये।

अतिथि—संविभागव्रत—जिनके आने की कोई तिथि नियत न हो ऐसे मुनियों को अतिथि कहते हैं। अपने लिये बनाये आहार में से मुनियोंको दान देना अतिथि-संविभागव्रत है। इसको वैयावृत्य भी कहते हैं। मुनियों को दान देने की विधि पीछे लिखी जा चुकी है उसके अनुसार मुनियों को आहार दान देना अतिथि-संविभागव्रत है। जिस दिन अतिथि वा कोई धर्म-पात्र न मिले तो उस दिन एक किसी रसका त्यागकर देना चाहिये। श्रावकोंको करुणादान भी देना चाहिये। दुखी लोगोंका दुःख दूर करना, भूखों को खिलाना आदि सब करुणादान है। भगवान् पंच-परमेष्ठी की पूजा करना भी इसी वैयावृत्य व्रत के अंतर्गत है। इसलिये वह तो प्रत्येक श्रावक को प्रतिदिन करनी चाहिये। चाहे वह जिनालय में जाकर करे या अपने चैत्यालय में ही करे, परंतु भगवान् की पूजा प्रति दिन करनी चाहिये। यह अतिथि-संविभाग व्रत मुनियों के न मिलने पर भी प्रति दिन पल सकता है।

संयमियों के गुणों में अनुराग रखकर उनके पैर दाबना वा उनकी जो कुछ आपत्ति हो उसको दूर करना तथा और भी जो कुछ उनका उपकार होसके करना वैयावृत्य है। गृहस्थ श्रावकों को प्रति दिन अनेक प्रकार के पाप लगते हैं परंतु इस व्रतके पालन करने से वे सब पाप नष्ट हो जाते हैं। संयमी मुनियों को नमस्कार करने से ऊँच गोत्र की प्राप्ति होती है, दान देने से भोगोपभोग की प्राप्ति होती है, भक्ति करने से उपासना करने से अनेक ऐश्वर्यों की प्राप्ति होती है।

मुनिराज प्रासुक आहार लेते हैं इसलिये हरे अप्रासुक पत्ते पर रक्खा हुआ वा ऐसे पत्ते से ढका हुआ आहार देना, आहार देते समय किसी प्रकार का अनादर करना, भूल जाना और अन्य श्रावक दाताओं से ईर्ष्या रखना इस व्रतके दोष हैं। श्रावकों को इन सबका त्याग भी अवश्य कर देना चाहिये।

इस प्रकार तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका स्वरूप कहा। ये सातों व्रत शील कहलाते हैं तथा ये सातों ही शील अणुव्रतों की रक्षा करते हैं, उनको बढाते हैं इसलिये इनको शील कहते हैं। इस प्रकार पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत ये बारह व्रत श्रावकों के कहलाते हैं, तथा ये बारह श्रावकों के उत्तर गुण कहलाते हैं। पहले बतला चुके हैं कि श्रावक लोग मुनि व्रत धारण करने की इच्छा करते रहते हैं। जो श्रावक इन व्रतों को निर्दोष पालन करते रहते हैं उनको मुनि पद धारण करने का

अच्छा अभ्यास हो जाता है। अणुव्रत गुणव्रतों से महाव्रत का अभ्यास हो जाता है और शिक्षाव्रतों से सामायिक, ध्यान करने, उपवास करने और त्याग करने का अभ्यास हो जाता है। इस प्रकार वह सम्यग्दृष्टी श्रावकों के ग्यारह स्थानों को प्राप्त होता हुआ अवश्य ही मुनिपद धारण कर लेता है। इस प्रकार बारह व्रतोंका निरूपण किया। अब इनका फल स्वरूप समाधिमरण वा सल्लेखना का स्वरूप कहते हैं।

सल्लेखना

लेखना शब्दका अर्थ कृश करना है। काय और कषायों का कृश करना सल्लेखना कहलाती है। जब श्रावक वा मुनि अनेक कारणों से अपनी आयुका अंत काल समझ लेते हैं तब वे सल्लेखना धारण करते हैं। सबसे पहले वे राग द्वेष और मोहका त्याग करते हैं, परिग्रहोंका त्याग करते हैं उस समय वे स्वजन वा परिवार के लोगों से ममत्व का सर्वथा त्यागकर उनसे क्षमा मांगते हैं तथा सबको क्षमा करते हैं। इस प्रकार वे अपने मनको शुद्ध बना लेते हैं। उस समय अपने शत्रु से भी क्षमा मांग लेनी चाहिये और उसको क्षमा कर देना चाहिये। तदनंतर अनुक्रम से आहारका त्याग कर केवल दूध रखना चाहिये, फिर दूधका भी त्यागकर गर्म जल रखना चाहिये, और फिर गर्म जलका भी त्यागकर अंतसमय तक उपवास धारण करना चाहिये। उस समय शोक, भय, दुःख,

कलुषता, रति, अरति, स्नेह, वैर आदि समस्त विकारों का त्याग करदेना चाहिये और अमृत रूप श्रुतज्ञान के द्वारा आत्माको पवित्र बनाना चाहिये। उस समय पंच परमेष्ठी के गुणों में अपना मन लगाना चाहिये और पंचनमस्कार मंत्रका जप वा स्मरण करना चाहिये। यदि अंत समयमें कंठ रुक गया हो तो पंच नमस्कार मंत्रको सुनना चाहिये। इस सल्लेखना धारण करने में अन्य धार्मिक श्रावकों को भी सहायता देनी चाहिए, ऊंचे शब्दों से पंच नमस्कार मंत्र सुनाना चाहिये। संसार की अस्थिरता दिखलाते हुए ममत्व का त्याग कराना चाहिये और पंच परमेष्ठी का स्मरण कराकर पंच नमस्कार मंत्र में उसका अनुराग बढ़ाना चाहिये।

सबसे अच्छा तो यह है कि अन्त समय में किसी मुनि आश्रम में जाकर समाधि मरण धारण करना चाहिये और यदि हो सके तो अन्त समय में मुनिपद ही धारण करना चाहिये। मुनिआश्रम में जाने से अन्त समय में मुनि वा आचार्य भी समाधिमरण में सहायता दे सकते हैं। यदि मुनि आश्रमका योग न मिले तो किसी तीर्थ क्षेत्र पर जाकर समाधिमरण धारण करना चाहिये। समाधि-मरण धारण कर जीवित रहने की आशा, शीघ्र मर जाने की आशा नहीं करनी चाहिये। मित्रों से अनुराग नहीं रखना चाहिये, जो सुख भोगे हैं उनका अनुभव नहीं करना चाहिये और निदान वा आगामी भोगों की इच्छा नहीं करनी चाहिये। ये सब समाधिमरण के दोष हैं, इनका सर्वथा त्यागकर देना चाहिये।

यह समाधिमरण तपश्चरण करने का मुख्य फल है। जो श्रावक सम्यग्दृष्टी, होता है आत्मतत्त्वका यथार्थ स्वरूप समझता है

और संसार शरीर से विरक्त रहता है वही श्रावक इस श्रेष्ठ समाधिमरण को धारण कर सकता है। संसार में परिभ्रमण करने वाले प्राणी कभी समाधिमरण धारण नहीं कर सकते, वे तो हाय हाय करते हुए ही प्राण त्यागकर देते हैं। अन्त समय में शरीर तो नष्ट होता ही है परंतु उस समय अपने आत्मा के रत्नत्रय गुण को नष्ट न होने देना उसकी रक्षा करते हुए उसे अपने आत्मा के साथ ले जाना ही समाधिमरण है। ऐसा समाधिमरण वास्तव में आत्माका कल्याण करने वाला है। यह ऐसा समाधिमरण अनेक अभ्युदयों का कारण है और परंपरा मोक्षका कारण है। इसलिये श्रावकों को इसकी भावना सदा काल रखनी चाहिये और अन्त-काल में उसे धारण करना चाहिये।

श्रावकों के स्थान

पहले बता चुके हैं कि श्रावकगण एकदेश व्रतों को पालन करते हैं। एक देशका अर्थ थोडा है। थोडे का अर्थ रुपये में एक आना भर भी है, चार आना भर भी है बारह आना भर भी है और पौने सोलह आना भर तक है। इसी उद्देश से श्रावकों के ग्यारह स्थान बतलाये हैं। उन ग्यारह स्थानों के नाम इस प्रकार हैं। दर्शन-प्रतिमा, व्रत-प्रतिमा, समायिक-प्रतिमा, प्रोपधोपवास प्रतिमा, सचित्तत्याग-प्रतिमा, रात्रिभुक्त-त्याग-प्रतिमा, ब्रह्मचर्य-प्रतिमा, आरंभ-त्याग-प्रतिमा, परिग्रह-त्याग-प्रतिमा अनुमति-त्याग-प्रतिमा और उद्दिष्ट- त्याग-प्रतिमा। इस प्रकार इन ग्यारह स्थानों को ग्यारह प्रतिमा कहते हैं।

दर्शनप्रतिमा—जो श्रावक संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर सम्यग्दर्शन को निर्दोष रीति से पालन करता है, सातों व्यसनोंका त्याग कर देता है और पंच परमेष्ठी के चरण कमलों में अत्यन्त भक्ति रखता है वह दर्शन प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक कहलाता है। ऐसा श्रावक मूल गुणोंको अतिचार रहित निर्दोष पालन करता है; प्रतिदिन भगवान् जिनेन्द्र देवकी पूजा करता है और सदा काल मोक्षमार्ग में लगा रहता है।

व्रतप्रतिमा—जो श्रावक दर्शन प्रतिमा को पूर्ण रूपसे पालन करता है और फिर पांचों अणुव्रतों को अतिचार रहित निर्दोष पालन करता है तथा तीन गुणव्रत और चारों शिक्षाव्रतों को पालन करता है और माया मिथ्यात्व निदान इन तीनों शल्यों का सर्वथा त्यागकर देता है ऐसा श्रावक व्रत प्रतिमाको धारण करने वाला कहलाता है। इसको व्रती श्रावक कहते हैं।

सामायिक—इन दोनों प्रतिमाओं को पूर्ण रूप से पालन करता हुआ जो श्रावक तीनों समय सामायिक करता है, तीनों समय प्रत्येक दिशामें तीन तीन आवर्त्त और एक एक प्रणाम करता है मन वचन काय तीनों को शुद्ध रखता है और नियत समय तक ध्यान वा जप में लीन रहता है वह तीसरी सामायिक प्रतिमा को धारण करने वाला कहलाता है।

प्रोषधोपवास प्रतिमा—ऊपरकी तीनों प्रतिमाओं को पूर्ण रूप से पालन करता हुआ जो श्रावक प्रत्येक महीने की दोनों अष्टमी

और दोनों चतुर्दशी के दिन अर्थात् प्रत्येक महीने के चारों पर्वोंके दिन नियम से प्रोषधोपवास करता है अथवा प्रोषधोपवास की शक्ति न हो तो उपवास करता है वह श्रावक चौथी प्रोषधोपवास प्रतिमा को धारण करने वाला कहलाता है।

सचित्तत्याग प्रतिमा—ऊपरकी चारों प्रतिमाओं को पूर्ण रूप से पालन करता हुआ जो श्रावक जन्म भर के लिये सचित्त पदार्थ का त्याग कर देता है, जो ताजा वा कच्चा पानी भी काम में नहीं लाता, पानीको गरमकर वा प्रासुक वा अचित्त कर ही काम में लाता है तथा इस प्रकार जो एकेन्द्रिय जीवों की भी पूर्ण रूप से दया पालन करता है वह पांचवीं सचित्त त्याग प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक कहलाता है।

रात्रिभुक्तत्याग-प्रतिमा—ऊपर की पांचों प्रतिमाओं को पूर्ण रूप से पालन करता हुआ जो श्रावक रात्रि भोजनका सर्वथा त्याग कर देता है वह रात्रिभुक्त प्रतिमा को धारण करने वाला कहलाता है। यद्यपि वह पहले भी स्वयं रात्रि भोजन कभी नहीं करता था तथापि वह कराने वा अनुमोदना का त्यागी नहीं था। इस प्रतिमा को धरण करने से वह रात्रि भोजन कराने वा उसकी अनुमोदना का भी त्याग कर देता है। इसके सिवाय एक बात यह भी है कि जो श्रावक रात्रि भोजन के त्यागी होते हैं वे दिवा मैथुन (दिनमें मैथुन करना) के भी त्यागी होते हैं। इस प्रतिमा को धारण करने वाला दिवा मैथुन का भी त्याग कर देता है इसीलिये इस प्रतिमा का नाम दिवा मैथुन त्याग भी है।

ब्रह्मचर्य-प्रतिमा—ऊपर की छहों प्रतिमाओं को पूर्ण रूप से पालन करता हुआ जो श्रावक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करता है, अपनी विवाहिता स्त्रीका भी त्यागकर देता है, वह सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है।

इस सातवीं प्रतिमाको धारण करनेवाला उदासीन रूप से अपने घर में भी रह सकता है तथा घर में रहने का त्याग भी कर सकता है। जो घर में रहने का त्याग कर देता है वह सफेद वस्त्र भी धारणकर सकता है तथा गेरुआ वस्त्र भी धारण कर सकता है।

आरंभत्याग प्रतिमा—जो श्रावक ऊपर की सातों प्रतिमाओं का पालन करता हुआ पाप के डर से खेती व्यापार आदिका त्याग कर देता है, रसोई बनाने वा अन्य समस्त आरंभों का त्यागकर देता है, कोई किसी प्रकार का आरंभ नहीं करता वह आरंभ-त्याग प्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है।

परिग्रहत्याग प्रतिमा—ऊपरकी आठों प्रतिमाओं को पूर्ण रूप से पालन करनेवाला जो श्रावक बाह्य परिग्रहों का भी त्यागकर देता है तथा शक्ति अनुसार अंतरंग परिग्रहों का भी त्यागकर देता है, जो केवल थोडे से वस्त्र मात्र परिग्रहको रखता है वह परिग्रह त्याग प्रतिमाको धारण करनेवाला कहलाता है।

अनुमति-त्याग प्रतिमा—ऊपरकी नौ प्रतिमाओं को पूर्ण रूप से पालन करनेवाला जो श्रावक किसी भी आरंभ में, किसी भी परिग्रह में तथा और किसी भी विवाह शादी व्यापार आदि लौकिक

कार्यों में अपनी सम्मति नहीं देता वह अनुमति त्याग प्रतिमाको धारण करनेवाला श्रावक कहलाता है।

उद्दिष्टत्याग प्रतिमा—ऊपर की दशों प्रतिमाओं को पूर्ण रूप से पालन करने वाला जो श्रावक अपने घर से निकल कर मुनियों के साथ वन में रहता है, गुरु वा आचार्य से विधि पूर्वक दीक्षा लेता है और उद्दिष्टत्याग व्रतको धारण करता है; इसके सिवाय जो भिक्षा भोजन करता है और मुनियों के समान तपश्चरण करता है वह उद्दिष्टत्याग प्रतिमा को धारण करनेवाला कहलाता है।

जो आहार वस्त्र वा अन्य कोई पदार्थ विशेष रूपसे किसी विशेष व्यक्ति के लिये बनाया जाता है उसको उद्दिष्ट कहते हैं। जैसे मेरे लिये ही जो भोजन बनाया गया है वह मेरे लिये उद्दिष्ट है। ग्यारह प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक ऐसे उद्दिष्ट का सर्वथा त्यागी होता है। वह तो मुनियों के समान चर्या के लिये निकलता है और जहां उसका पडगाहन हो जाता है वहीं पर नवधाभक्तिपूर्वक आहार कर लेता है।

इस प्रतिमा को धारण करनेवाले दो प्रकार के होते हैं, एक क्षुल्लक और दूसरे अहिलक। जो लंगोटी और एक खंड वस्त्र रखते हैं तथा पीछी कमण्डल, रखते हैं उनको क्षुल्लक कहते हैं। यह क्षुल्लक कैंची वा उस्तरा से बाल बनवाता है। दूसरा अहिलक श्रावक बाल नहीं बनवाता किंतु मुनिके समान केशलोच करता है, एक लंगोटी रखता है पीछी कमंडल रखता है तथा लंगोटी के सिवाय और किसी प्रकार का वस्त्र नहीं रखता।

इन ग्यारह प्रतिमाओं में छह प्रतिमा तक जघन्य प्रतिमा कहलाती है। इनको धारण करने वाला जघन्य श्रावक कहलाता है। सातवीं आठवीं नौवीं प्रतिमा को धारण करने वाला मध्यम श्रावक कहलाता है और दशवीं ग्यारहवीं प्रतिमा को धारण करनेवाला उत्कृष्ट श्रावक कहलाता है। उत्कृष्ट श्रावक लंगोटी मात्र का भी त्याग कर मुनिपद धारण कर लेता है। इस प्रकार संक्षेप से ग्यारह प्रतिमाओं का स्वरूप है।

तत्त्व

तत्त्व सात हैं:-जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। संक्षेप रूप से इनका स्वरूप इस प्रकार है:—

जीव—जिसमें चैतन्य शक्ति हो उसको जीव कहते हैं। चैतन्य शक्ति का अर्थ ज्ञान है, जिसमें ज्ञान हो वह जीव है। मनुष्य पक्षी पशु कीडे मकोडे वृक्ष पौधे आदि सबमें ज्ञान है और इसीलिये सब जीव हैं। वृक्ष भी सब खाते हैं पीते हैं, बढते हैं, उत्पन्न होते हैं और मरते हैं इसलिये वृक्ष पौधे भी सब जीव हैं।

जीव के दो प्रकार हैं-संसारी और मुक्त। जो जीव संसार में परिभ्रमण करते हैं, चारों गतियों में जन्म लेते हैं वा मरते हैं वे सब संसारी जीव कहलाते हैं। ऐसे संसारी जीव दश प्रकार के बाह्य प्राणों से जीवित रहते हैं तथा चेतना शक्ति रूप अंतरंग प्राणों से जीवित रहते हैं। चेतना शक्ति रूप प्राण तो समस्त जीवों में हैं परंतु बाह्य प्राणों में अंतर रहता है और वह इस प्रकार है।

वाह्य प्राण दश हैं। पांच इन्द्रियां, मन, वचन, काय. ये तीन बल आयु और श्वासोच्छ्वास। इनमें से एकेन्द्रिय जीवों के एक स्पर्शन इन्द्रिय, काय बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण होते हैं। दो इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन रसना ये दो इन्द्रियां, काय और वचन दो बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये छह प्राण होते हैं। ते इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन रसना घ्राण ये इन्द्रियां होती है. काय वचन दो बल होते हैं आयु और श्वासोच्छ्वास होते हैं। इस प्रकार सात प्राण होते हैं। चौ इन्द्रिय जीवों के स्पर्शन रसना घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां होती हैं काय वचन दो बल होते हैं और आयु श्वासोच्छ्वास होते हैं। इस प्रकार आठ प्राण होते हैं। असेनी पंचेन्द्रिय के स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु और श्रोत्र ये पांच इन्द्रियां होती हैं, काय और वचन दो बल होते हैं आयु और श्वासोच्छ्वास होते हैं। सैनी पंचेन्द्रिय जीवों के पांचों इन्द्रियां मन वचन काय, तीनों बल आयु और श्वासोच्छ्वास ऐसे दशों प्राण होते हैं।

ये संसारी जीव त्रस और स्थावर के भेद से दो प्रकार केहैं। दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक त्रस जीव कहलाते हैं और एकेन्द्रिय सब स्थावर कहलाते हैं। एकेन्द्रिय में पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक जीव हैं। खान की मिट्टी में, खान के पत्थर में वा खान के गेरु आदि पदार्थों में पृथिवी कायिक जीव हैं. इसीलिये खान की वृद्धि होती रहती है। जलमें जल- कायिक, अग्नि

में अग्निकायिक, और वायु में वायुकायिक जीव रहते हैं। वृक्ष पौधे आदि सब वनस्पतिकायिक हैं। इन सबके एक ही स्पर्शन इन्द्रिय होती है। जूं लट गिडोंरा आदि दो इन्द्रिय जीव हैं इनके स्पर्शन रसना दो इन्द्रियां होती हैं, नाक आंख कान नहीं होते। चींटा चींटी खटमल बिच्छू आदि ते इन्द्रिय जीव हैं इनके स्पर्शन रसना घ्राण ये तीन इन्द्रियां होती हैं आंख, और कान नहीं होते। मक्खी भोंरा, मच्छर, ततैया पतंगा आदि चौ इन्द्रिय जीव हैं इनके कान नहीं होते। गाय भैंस कबूतर मनुष्य आदि सब पंचेन्द्रिय जीव हैं।

ये सब संसारी जीव चार गतियों में जन्म मरण करते हुए परिभ्रमण करते रहते हैं। नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति ये चार गतियां हैं। इस पृथ्वी के नीचे सात नरक हैं उन नरकों में नारकियों के उत्पन्न होने और रहने के अनेक स्थान हैं। उन्हीं में ये नारकी रहते हैं। उन नरकों से ऊपर के आधे से अधिक स्थान इतने गर्म हैं कि यदि उनमें मेरु पर्वत के समान लोहा डाल दिया जाय तो जाते ही गल जाय तथा शेष नीचे के स्थान इतने ठंडे हैं कि यदि उनमें मेरु पर्वत के समान गला हुआ लोहा डाल दिया तो जाते ही जम जाय। वहां के वृक्ष पत्ते तलवार जैसे पैने होते हैं, वहां के समस्त स्थान इतने दुर्गंध-मय हैं कि यदि वहां की थोडी सी मिट्टी भी यहां आजाय तो उसकी दुर्गंध से सैकडों कोसों के जीव मर जाय। ऐसे महा दुःख-मय स्थान में वे नारकी रहते हैं। वहां पर वे नारकी परस्पर एक

दूसरे को दुःख पहुँचाया करते हैं। वहां पर एक क्षण भी सुख से व्यतीत नहीं होता। उन नारकियों के शरीर काले होते हैं, वे नपुंसक होते हैं, उनका शरीर वैक्रियक होता है जो खंड खंड होकर पारे के समान मिलकर बन जाता है। उनकी आयु सागरों की अर्थात् असंख्यात वर्षों की होती है और अपनी आयु पूर्ण होने पर ही उनकी वह पर्याय छूटती है। अत्यन्त तीव्र हिंसा आदि पाप करने से जीव नरक में उत्पन्न होते हैं।

पशु पक्षी कीडे मकोडे स्थावर आदि सब जीव तिर्यंच गति के जीव कहलाते हैं। तिर्यंच गति में भी महा दुःख हैं। जो जीव मनुष्य योनि में जन्म लेते हैं वे मनुष्य गति के जीव कहलाते हैं। अधिक पाप और कम पुण्य करने से मायाचारी करने से ये जीव तिर्यंच गति में उत्पन्न होते हैं। अधिक पुण्य कम पुण्य वा संतोप शील आदि धारण करने से यह जीव मनुष्य गति में जन्म लेता है, तथा अधिक पुण्य से देव होते हैं।

देव चार प्रकार के हैं। इस पृथ्वी के नीचे भवनवासी देव रहते हैं। उनके बहुत सुन्दर मीलों लंबे चौड़े भवन बने हुए हैं। प्रत्येक भवन में एक एक जिन मंदिर है। इस पृथ्वी पर व्यंतर देव रहते हैं। ऊपर जो सूर्य चन्द्रमा ग्रह नक्षत्र तारे आदि दिखाई पडते हैं वे सब ज्योतिषी देवों के विमान हैं उनमें ज्योतिषी देव रहते हैं। उनसे बहुत ऊंचे स्वर्ग के विमान हैं उनमें वैमानिक देव रहते हैं। वैमानिक देवों के अनेक भेद हैं और वे सब देवों से अधिक

सुखी व पुण्यवान हैं। सबसे ऊपर के विमान के देव मनुष्य गति में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्तकर लेते हैं।

जीवों के भाव—जीवों के भाव पांच प्रकार हैं। औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक। जो भाव कर्मों के उपशम होने से होते हैं उनको औपशमिक भाव कहते हैं। ऐसे भाव दो हैं। एक औपशमिक सम्यग्दर्शन और दूसरा औपशमिक सम्यक् चारित्र। सम्यग्दर्शन को घात करने वाली प्रकृतियों का उपशम होने से औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है तथा मोहनीय कर्म के उपशम होने से औपशमिक सम्यक् चारित्र होता है। जो जीव के भाव कर्मों के क्षयोपशम से होते हैं उनको क्षायोपशमिक कहते हैं। ऐसे भाव अठारह हैं। ज्ञान, दर्शन, लब्धि, अज्ञान, सम्यक्त्व, चारित्र, संयमासंयम,। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान मनः पर्य ज्ञान ये चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं। कुमतिज्ञान, कुश्रुत ज्ञान, कुअवधिज्ञान ये तीन अज्ञान क्षायोपशमिक हैं। चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन अवधिदर्शन ये तीन दर्शन क्षायोपशमिक हैं। पांचों लब्धियां क्षायोपशमिक हैं। जिस जीवके जितना क्षयोपशम होता है उतने ही दान लाभ आदि उनको प्राप्त होते हैं। सम्यक्त्व चारित्र और संयमासंयम ये तीनों भी उनको घात करने वाले कर्मों के क्षयोपशम से प्राप्त होते हैं। क्षायिक भाव के नौ भेद हैं:-ज्ञान दर्शन दान लाभ भोग उपभोग वीर्य सम्यक्त्व चारित्र। ये नौ क्षायिक भाव केवली भगवान् के होते हैं। समस्त ज्ञानावरण कर्म के क्षयसे केवल ज्ञान होता है। समस्त दर्शनावरण कर्म के क्षय से केवल

दर्शन होता है। अन्तराय कर्म के अत्यन्त क्षय से अनन्तदान अनन्त लाभ अनन्त भोग अनन्त उपभोग और अनन्त वीर्य प्रकट होता है और मोहनीय कर्म के अत्यन्त क्षय होने से क्षायिक सम्यक्त्व और क्षायिक चारित्र प्रकट होता है। जो भाव कर्मों के उदय से प्राप्त होते हैं उनको औदयिक भाव कहते हैं। ऐसे भाव इकईस हैं। गति चार, कषाय चार, लिंग तीन, मिथ्यादर्शन एक, अज्ञान एक, असंयत एक, असिद्ध एक, लेश्या छह। मनुष्य गति नाम कर्म के उदय से मनुष्य गति के भाव होते हैं। तिर्यंचगति नाम कर्म के उदय से तिर्यंच गति के भाव होते हैं। नरक गति नाम कर्म के उदय से नारक रूप भाव होते हैं और देव गति नाम कर्म के उदय से देव रूप भाव होते हैं। क्रोध मान माया लोभ ये चार कषाय हैं। ये चारों कषाय चारित्र मोहनीय के भेद रूप चारों कषायों के उदय से होते हैं। स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग और नपुंसकलिंग के भाव मोहनीय कर्म के नो कषाय रूप स्त्रीपुन्नपुंसकलिंग के उदय से होते हैं। मिथ्यात्व कर्म के उदय से मिथ्यादर्शन रूप भाव होते हैं। ज्ञानावरण कर्म के उदय से अज्ञान होता है और चारित्र मोहनीय के उदय से असंयत भाव होता है। लेश्या छह हैं। कृष्ण नील कापोत पीत पद्म शुक्ल। कषाय सहित योगों की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। मन वचन कायकी क्रिया को योग कहते हैं। उन्हीं क्रियाओं में यदि कषाय मिली हो तो उनको लेश्या कहते हैं। तीव्र कषाय के उदय से जो योग प्रवृत्ति होती है वह कृष्ण लेश्या है वह नरक का कारण है। इसी प्रकार जैसी जैसी कषायें कम

होती जाती हैं वैसे ही वैसे आगे की लेश्याएं होती जाती हैं। इनको इस प्रकार समझना चाहिये। छह आदमी आम खाने निकले। कृष्ण लेश्या वाला कहता था कि इस वृक्ष को जड से काटलो और आम खालो। नील लेश्या वाला कहता था कि भाई वृक्ष क्यों काटते हो, एक गुच्छा काटलो और आम खालो। कापोत लेश्या वाला कहता था कि अरे भाई गुच्छा क्यों काटते हो, छोटी छोटी टहनियां काटलो और आम खालो। पीत लेश्या वाला कहता है कि भाई टहनियां भी क्यों काटते हो, कच्चे पक्के आम तोडलो और पके पके खालो। पद्म लेश्या वाला कहता है कि भाई कच्चे आम क्यों तोडते हो, पके आम तोडलो और खालो। शुक्ल लेश्यावाला कहता है कि भाई तोडते ही क्यों हो, जो आम पक जायगा वह अवश्य नीचे आगिरेगा, जो आम पककर अपने आप आगिरे बस उसीको खालो। इस प्रकार छहों लेश्याओं के उदाहरण हैं। पारिणामिक भावों के तीन भेद हैं। जीवत्व, भव्यत्व और अभव्यत्व। जीवत्व भाव सब जीवों में है। जिन जीवों में सम्यग्दर्शन प्रकट होने की, व्यक्त होने की योग्यता होती है ऐसे जीवों के भव्यत्व भाव होते हैं तथा जिन जीवों के कभी भी सम्यग्दर्शन व्यक्त होने की योग्यता नहीं है उनमें अभव्यत्व भाव होता है। जिस प्रकार उबालने से मूंग गल जाती है परन्तु कोई कोई मूंग (कोरडू मूंग) चाहे जितनी अग्नि जलाने पर भी नहीं गलती इसी प्रकार अनेक जीवों में सम्यग्यर्शन प्रकट होने की योग्यता नहीं होती। यद्यपि कर्मों से ढका हुआ आत्माका सम्यग्दर्शनगुण समस्त संसारी जीवों में

समान है परन्तु वह अनेक जीवों में व्यक्त हो सकता है और अनेक जीवों में व्यक्त नहीं होता। यही भव्यत्व और अभव्यत्वका लक्षण है।

इस प्रकार जीवों के भाव दिखलाये। यहाँ पर इतना और समझलेना चाहिये कि जीवका लक्षण चेतना बतलाया है। चेतना शब्दका अर्थ ज्ञान दर्शन है। ज्ञानके भेद पहले बता चुके हैं। दर्शन चार हैं-चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन, और केवलदर्शन। एकेन्द्रिय जीवों के स्पर्शन इन्द्रिय से उत्पन्न होनेवाला मतिज्ञान रहता है तथा स्पर्शन इन्द्रिय से होने वाला अचक्षुदर्शन रहता है और अक्षर के अनन्तवें भाग श्रुत ज्ञान होता है। छुई मुई के पौधे को हाथ से छूने से उसे स्पर्श जन्यज्ञान हो जाता है और इसीलिये वह छूते ही सिकुड़ जाता है। दोइन्द्रिय के दोइन्द्रियों से ज्ञान तथा दो इन्द्रियों से अचक्षु दर्शन होता है तथा क्षयोपशम के अनुसार श्रुतज्ञान होता है। तेइन्द्रिय जीवों के तीन इन्द्रियों से ज्ञान और तीन ही इन्द्रियों से अचक्षुदर्शन होता है, श्रुतज्ञान क्षयोपशम के अनुसार होता है। चौ इन्द्रियों के चारइन्द्रियों से ज्ञान होता है, चार ही, इन्द्रियों से चक्षु और अचक्षुदर्शन होते हैं और क्षयोपशम के अनुसार श्रुत ज्ञान होता है। पंचेन्द्रिय तिर्यंचों के पांचों इन्द्रियों से ज्ञान दर्शन होता है। तथा मनको धारण करने वाले सैनी पंचेन्द्रिय मनुष्यों के श्रुत ज्ञान विशेष होता है। श्रुतज्ञान मन ही सेहोता है और इसीलिये वह क्षयोपशमके अनुसार तथा अभ्यास

के अनुसार हीनाधिक होता है। जो तपस्वी मुनि हैं उनके क्षयोपशम के अनुसार अवधिज्ञान और मनः पर्यय ज्ञान भी होता है। केवल ज्ञान और केवल दर्शन केवली भगवान् अरहंत देव के ही होता है। अभिप्राय यह है कि ज्ञान समस्त जीवों के है और वह क्षयोपशम के अनुसार हीनाधिक रूपसे रहता है।

अजीवतत्त्व

जिसमें चेतना शक्ति न हो, ज्ञान दर्शन न हो उसको अजीव कहते हैं। अथवा जो जीव न हो वह अजीव है। अजीव के पांच भेद हैं। पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य।

पुद्गल—जिसमें रूप हो, रस हो, गंध हो और स्पर्श हो उसको पुद्गल कहते हैं। रूप रस गंध और स्पर्श ये चारों पुद्गल के गुण हैं और चारों ही अविनाभावी हैं। अविनाभावी का अर्थ साथ रहने वाले हैं। जहां एक भी गुण रहता है वहां स्थूलरूपसे वा सूक्ष्म रूपसे चारों ही रहते हैं। जैसे वायु में स्पर्श गुण मालूम होता है परन्तु वहां पर रस गंध और रूप भी है। यदि वायु में रूप नहीं माना जायगा तो दो वायु मिलकर जो पानी बन जाता है उस पानी में भी रूप नहीं होना चाहिये। परन्तु उन दो वायु से बने हुए पानीमें रूपरस गंध सब हैं इसलिये वायुमें भी ये तीनों अवश्य मानने पडते हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि वायुमें ये गुण सूक्ष्म रीतिसे रहते हैं और पानीमें व्यक्त हो जाते हैं

लकडीमें रूप रस गंध और स्पर्श चारों गुण हैं इसलिये उस लकडीसे बनी हुई अग्निमें भी सब गुण मानने पडते हैं। इसलिये यह सिद्धांत निश्चित है कि रूप रस गंध स्पर्श ये चारों पुद्गल के गुण एक साथ रहते हैं जहां एक भी रहता है वहां सूक्ष्म रूपसे वा स्थूल रूपसे चारों ही रहते हैं।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, शब्द, बंध, सूक्ष्म,स्थूल, संस्थान, भेद, अंधकार, छाया, उद्योत, आतप आदिसब पुद्गल के ही भेद वा रूपांतर हैं। इनको पुद्गल की पर्याय कहते हैं। पृथ्वीमें चारों गुण हैं। यद्यपि वायुमें रूप रस गंध, अग्निमें रस गंध और जलमें गंध गुण बहुतसे लोग नहीं मानते तथापि ऊपर लिखे अनुसार इनमें सब सिद्ध हो जाते हैं।

शब्द भी पुद्गलसे बनता है। दो पुद्गलों के मिलनेसे शब्द उत्पन्न होता है वह इन्द्रियगोचर है, कानसे सुनाई पडता है इसलिये भी पुद्गल है। शब्दको पकड सकते हैं। जैसे बाजे की चूडियों में शब्द भर लिया जाता है, शब्दको रोक सकते हैं यदि चारों ओर से मकान बंद हो तो भीतर का शब्द बाहर सुनाई नहीं पडता। शब्दका धक्का बडे जोरसे लगता है, बिजली के शब्दसे वा तोप के शब्दसे बडे बडे मकान गिर जाते हैं, गर्भ गिर जाते हैं। शब्द चलता है इसलिये दूरसे भी सुनाई भी पडता है तथा बिजलीसे हजारों मीलों तक पहुंचाया जाता है। वह सब काम पुद्गल का है। बहुतसे लोग पुद्गलको आकाशका गुण मानते हैं परन्तु वे

भूलते हैं. क्योंकि आकाश अमूर्त्त है इसलिये उसका गुण शब्द भी अमूर्त्त ही होना चाहिये। परन्तु अमूर्त्त शब्दसे ये काम कभी नहीं हो सकते। इसलिये कहना चाहिये कि शब्द पुद्गल है और पुद्गलसे ही उत्पन्न होता है। बंध भी पुद्गल है, क्योंकि वह दो पुद्गल पदार्थों के मिलने से ही होता है। पुद्गलको छोडकर अन्य सब पदार्थ अखंड और अमूर्त्त हैं इसलिये वे अन्य किसी भी पदार्थ से मिल कर बंध रूप नहीं हो सकते। सूक्ष्म और स्थूल ये दोनों भेद पुद्गल में ही हो सकते हैं। जैसे यह पत्थर छोटा है वह बड़ा है। संस्थान आकर को कहते हैं। यह चौकोर है, यह गोल है ये सब आकार पुद्गल में ही होते हैं। भेद वा टुकडे भी पुद्गल के ही होते हैं तथा वे छह प्रकार होते हैं-उत्कर, चूर्ण, खंड, चूर्णिका, प्रतर, अणुचटन। आरासे लकडो के जो टुकडे होते हैं उसको उत्कर कहते हैं। चक्कीसे जो गेहूँ जौ पिसते हैं उसको चूर्ण कहते हैं। घडे के टुकडोंको खंड कहते हैं। मूंग उडदको दालको चूर्णिका कहते हैं। बादलों के टुकडों को प्रतर कहते हैं। लोहे को अग्नि में तपाकर घन से पीटने से जो स्फुलिंगे उडते हैं उनको अणुचटन कहते हैं। इस प्रकार भेद भी छह प्रकार है। अंधकार दिखाई पडता है इसलिये पुद्गल है। छाया वा चित्र सब दिखाई पडते हैं इसलिये पुद्गल हैं। सूर्य के प्रकाशको आतप कहते हैं और चन्द्रमा की चांदनी को उद्योत कहते हैं। ये दोनों ही दिखाई पडते हैं तथा उष्ण और शीत हैं इसलिये पुद्गल हैं। इस प्रकार पुद्गल के अनेक भेद हैं।

यह पुद्गल अनेक प्रकार से जीवों का उपकार करता है। यथा जीवों का शरीर पुद्गल से बनता है, वचन मन पुद्गल से बनते हैं, श्वासोच्छ्वास वायु रूप पुद्गल से बनता है, इष्ट अनिष्ट रूप अनेक प्रकार के पुद्गलों द्वारा जीवों को सुख वा दुःख पुद्गल ही पहुंचाता है, आयुरूप पुद्गल के द्वारा जीवित रखता है और आयु रूप पुद्गल जब जीवसे हट जाता है तो मरण कहलाता है। यह सब पुद्गल का जीव पर उपकार है। इसके सिवाय पुद्गल परस्पर भी उपकार करते हैं। जैसे बालू वा भस्म से बर्तन शुद्ध होते हैं, पानी से कपड़े धुलते हैं तथा और भी परस्पर अनेक उपकार होते हैं।

जिस प्रकार जीवमें चलने की शक्ति है उसी प्रकार पुद्गल में भी चलने की शक्ति है और वह बहुत ही प्रबल वेग से चलते हैं। बिजली पुद्गल है और वह हजारों लाखों मील बहुत ही थोड़े समयमें पलक मारते ही पहुंच जाती है। बिजली के साथ चलने वाले शब्द भी उसी प्रकार प्रबल वेग से पहुंच जाते हैं। वायु पुद्गल है और वह सदा चलता रहता है। जो पदार्थ इन्द्रिय गोचर हैं इन्द्रियों से जाने जाते हैं वे सब पुद्गल हैं।

धर्म द्रव्य—यह एक अखंड और अमूर्त्त द्रव्य है और जीव पुद्गलों के चलने में सहायक होता है। जिस प्रकार मछली में चलने की शक्ति है तथापि वह बिना पानी के नहीं चल सकता। इसी प्रकार जीव पुद्गलों में चलने की शक्ति है तथापि वे धर्म द्रव्य की सहायता से ही चलते हैं। जिस प्रकार पानी मछली को

चलने के लिये प्रेरणा नहीं करता, यदि मछली चलती है तो पानी सहायक हो जाता है उसी प्रकार धर्म द्रव्य भी चलने के लिये किसी को प्रेरणा नहीं करता किंतु जब जीव वा पुद्गल चलते हैं तब वह सहायक अवश्य हो जाता है। यह धर्मद्रव्य समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर भरा हुआ है। लोकाकाश के आगे अलोकाकाश में यह द्रव्य नहीं है इसीलिये अलोकाकाश में कोई द्रव्य नहीं जा सकता। सब द्रव्य लोकाकाश में ही रहते हैं।

अधर्मद्रव्य – यहभी एक अखंड और अमूर्त्त द्रव्य है और जीव पुद्गलों के ठहरने में सहायक होता है। जिस प्रकार चलने वाले पथिक के लिये किसी वृक्ष की सघन छाया उस पथिक के ठहरने में सहायक हो जाती है उसी प्रकार चलते हुए जीव पुद्गलों के ठहरने में धर्म द्रव्य सहायक हो जाता है। जिस प्रकार छाया ठहरने के लिये प्रेरणा नहीं करती, यदि पथिक ठहरता है तो वह उसकी सहायक हो जाती है उसी प्रकार अधर्म द्रव्य ठहरने के लिये किसी को प्रेरणा नहीं करता यदि जीव पुद्गल ठहरते हैं वा ठहरे हैं उनके ठहरने में वह सहायक अवश्य हो जाता है। यह अधर्मद्रव्य भी समस्त लोकाकाश में व्याप्त होकर भरा हुआ है।

इन धर्मद्रव्य तथा अधर्मद्रव्य से ही लोकाकाश और अलोकाकाश का विभाग होता है। जितने क्षेत्र में धर्म और अधर्म द्रव्य है उतने क्षेत्र वा आकाशको लोकाकाश कहते हैं।

आकाश द्रव्य—जिसमें जीवादिक समस्त पदार्थों को स्थान देने की शक्ति हो उसको आकाश कहते हैं। यह आकाश सर्वत्र व्यापक है और अनंत है। समस्त पदार्थोंको स्थान देना इसका गुण है। इस आकाश के दो भेद हैं एक लोकाकाश और दूसरा अलोकाकाश। जितने आकाश में जीवादिक समस्त पदार्थ दिखाई पडते हैं वा जितने आकाश में समस्त पदार्थ रहते हैं उतने आकाश को लोकाकाश कहते हैं। यह लोकाकाश आकाश के मध्य भाग में है असंख्यात प्रदेशी है तथा अनंतानंत जीव, अनंतानंत पुद्गल धर्म अधर्म काल आदि समस्त पदार्थों से भरा हुआ है। इस लोकाकाश के आगे सब ओर अनंत आकाश पड़ा हुआ है वह अलोकाकाश कहलाता है, उसमें कोई पदार्थ नहीं हैं। लोकाकाश का विशेष वर्णन आगे लिखा जायगा।

काल द्रव्य—काल द्रव्य अमूर्त्त द्रव्य हैं और एक ही प्रदेशी है। इसीलिये काल के प्रदेश कालाणु कहलाते हैं। लोकाकाश के जितमें प्रदेश हैं उन सबपर एक एक कालाणु ठहरा हुआ है। लोकाकाश के असंख्यात प्रदेश हैं इसलिये कालाणु भी असंख्यात हैं। प्रत्येक कालाणुकी पर्याय समय कहलाता है। यह कालका सबसे छोटा भाग है। असंख्यात समयकी एक आवली, असंख्यात आवलीका एक उच्छ्वास, असंख्यात आवली का एक निश्वास, श्वासोच्छ्वास दोनोंका एक प्राण, सात प्राणों का स्तोक, सात स्तोक का एक लव, सतत्तर लवों का एक मुहूर्त्त, तीस मुहूर्त्तका एक रात दिन पंद्रह रात दिनका एक पक्ष, दो पक्षका महीना, दो महीने की

एक ऋतु, तीन ऋतुका अयन, दो अयन का वर्ष, चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग और चौरासी लाख पूर्वांगका एक पूर्व होता है। इसके आगे भी संख्यात के कितने ही भेद हैं।

इस प्रकार पुद्गल धर्म अधर्म आकाश काल ये पांच अजीव द्रव्य कहलाते हैं। इनमें जीव को मिला लिया जाय तो छह द्रव्य कहलाते हैं। इन छहों द्रव्यों में काल द्रव्य अणुमात्र है, शेष पांच द्रव्य अनेक प्रदेशी हैं। एक जीवद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य में असंख्यात असंख्यात प्रदेश हैं। पुद्गलमें एकसे लेकर संख्यात असंख्यात अनंत प्रदेश हैं। आकाशमें अनंत प्रदेश हैं। काल द्रव्य को छोडकर शेष धर्म अधर्म आकाश पुद्गल जीव ये पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं। काय शब्दका अर्थ शरीर है। जिस प्रकार शरीर में अनेक प्रदेश हैं उसी प्रकार इन पांचों द्रव्यों में अनेक प्रदेश हैं। इसलिये इनको काय कहते हैं। तथा इनका अस्तित्व भी है, इसलिये इनको अस्तिकाय कहते हैं।

जिस पुद्गल में एक ही प्रदेश होता है उसको अणु वा परमाणु कहते हैं। दो परमाणु वा अनेक परमाणु मिलकर जब एक रूप हो जाते हैं तब उसको स्कंध कहते हैं। इस प्रकार पुद्गल के अणु और स्कंध ऐसे दो भेद हैं।

द्रव्यों के गुण

अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व प्रदेशवत्त्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व अमूर्त्तत्व, ये दश सामान्य गुण कह-

लाते हैं। तथा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य स्पर्श रस गंध वर्ण गतिहेतुत्व स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्त्तत्व, अमूर्त्तत्व ये सोलह विशेष गुण कहलाते हैं। इनमें से जीव द्रव्य में अस्तित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व प्रदेशवत्त्व चेतनत्व अमूर्तत्व ये आठ सामान्य गुण रहते हैं तथा ज्ञान दर्शन सुख वीर्य चेतनत्व और अमूर्त्तत्व ये छह विशेष गुण रहते हैं। पुद्गल में अस्तित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व, प्रदेशवत्व, अचेतनत्व और मूर्तत्व ये आठ सामान्य गुण रहते हैं तथा स्पर्श रस गंध वर्ण मूर्त्तत्व अचेतनत्व ये छह विशेष गुण रहते हैं। धर्म द्रव्य में अस्तित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व प्रदेशवत्व अचेतनत्व अमूर्त्तत्व ये आठ सामान्य गुण रहते हैं तथा गतिहेतुत्व अमूर्त्तत्व अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण रहते हैं। अधर्म द्रव्य में अस्तित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व प्रदेशवत्व अचेतनत्व अमूर्त्तत्व ये आठ सामान्य गुण और स्थितिहेतुत्व अमूर्त्तत्व अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण रहते हैं। आकाश में अस्तित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व प्रदेशवत्व अचेतनत्व और अमूर्त्तत्व ये आठ सामान्य गुण रहते हैं तथा अवगाहनहेतुत्व अचेतनत्व अमूर्त्तत्व ये तीन विशेष गुण रहते हैं। कालद्रव्य में अस्तित्व वस्तुत्व द्रव्यत्व प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व अचेतनत्व अमूर्त्तत्व प्रदेशवत्व ये आठ सामान्य गुण रहते हैं तथा वर्तनाहेतुत्व अमूर्त्तत्व और अचेतनत्व ये तीन विशेष गुण रहते हैं। इस प्रकार छहों द्रव्यों के गुण हैं।

द्रव्यों के स्वभाव

अस्तिस्वभाव, नास्तिस्वभाव, नित्यस्वभाव, अनित्यस्वभाव, एकस्वभाव, अनेकस्वभाव, भेदस्वभाव, अभेदस्वभाव भव्यस्वभाव, अभव्यस्वभाव, परमस्वभाव ये ग्यारह सामान्य स्वभाव हैं। तथा चेतनस्वभाव, अचेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, अमूर्तस्वभाव, एकप्रदेश स्वभाव, अनेकप्रदेशस्वभाव, विभावस्वभाव, शुद्धस्वभाव, अशुद्ध-स्वभाव, उपचरितस्वभाव ये दश द्रव्यों के विशेष स्वभाव हैं। इनमें से जीव में और पुद्गलों में सब इक्कीस रहते हैं।

जीव में अचेतनस्वभाव मूर्तस्वभाव उपचार से रहते हैं। पुद्गल में चेतनस्वभाव अमूर्तस्वभाव उपचार से रहते हैं। धर्म अधर्म आकाश में चेतनस्वभाव, मूर्तस्वभाव, विभावस्वभाव, एक प्रदेश स्वभाव, अशुद्धस्वभाव ये पांच स्वभाव नहीं होते, शेष सोलह रहते हैं। काल द्रव्य में बहुप्रदेश स्वभाव नहीं रहता तथा ऊपर लिखे पांच स्वभाव भी नहीं रहते। इस प्रकार छह स्वभाव नहीं रहते शेष पंद्रह स्वभाव रहते हैं।

आस्रव

कर्मों के आने को आस्रव कहते हैं। जिस प्रकार किसी सरोवर में पानी आने के अनेक मार्ग होते हैं उसी प्रकार कर्मों के आने के अनेक मार्ग वा कार्य हैं परन्तु वे सब मन वचन काय की क्रियाओं के द्वारा होते हैं। मन वचन काय की क्रियाएं दो प्रकार

की होती हैं। एक शुभ और दूसरी अशुभ। मन वचन कायकी शुभ क्रियाओं से पुण्य कर्मोंका आस्रव होता है और अशुभ क्रियाओं से पापरूप कर्मोंका आस्रव होता है। पुण्य और पाप प्रायः कषायों से होते हैं, इन्द्रियों के विषय सेवन करने से होते हैं, व्रतों को न पालन करने से होते हैं और अन्य अनेक क्रियाओं से होते हैं। अथवा मिथ्यादर्शन पांच, अविरति बारह, कषाय पच्चीस, और प्रमाद पन्द्रह, योग पन्द्रह इन सब से आस्रव होता है। इनमें से एकांत, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान ये पांच मिथ्यादर्शन के भेद हैं। किसी भी पदार्थ के स्वरूप को एक धर्म रूप मानना नित्य ही मानना अथवा अनित्य ही मानना एकांत मिथ्यात्व है। इसका भी कारण यह है कि प्रत्येक पदार्थ में अनेक धर्म, अनेक गुण, अनेक स्वभाव रहते हैं। इसलिये किसी एक धर्म को मानना यथार्थ नहीं है किंतु मिथ्या है। किसी पदार्थ के स्वरूप को विपरीत मानना विपरीत मिथ्यात्व है, यथा यह नित्य ही है, दृष्टि अनादि नहीं है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र मोक्ष मार्ग है अथवा नहीं है इस प्रकार संशय रखना संशय मिथ्यात्व है। समस्त देवों को समान मानना वैनयिक मिथ्यात्व है तथा हिताहितका ज्ञान न होना अज्ञान मिथ्यात्व है। पांचों इन्द्रिय और मनको वश न करना तथा पृथ्वी अप तेज वायु वनस्पति और त्रस इन छह प्रकार के जीवों की रक्षा न करना बारह प्रकारकी अविरति है। अनंतानुबंधी क्रोध मान माया लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ, संज्वलन

क्रोध मान माया लोभ, हास्य रति अरति शोक भय जुगुप्सा स्त्रीवेद पुंवेद नपुंसकवेद इस प्रकार पच्चीस कषाय हैं। सत्यमनोयोग असत्यमनोयोग, उभयमनोयोग, अनुभयमनोयोग, सत्यवचनयोग असत्यवचनयोग, उभयवचनयोग, अनुभयवचनयोग, औदारिक काययोग, औदारिकमिश्रकाययोग, वैक्रियककाययोग, वैक्रयिक-मिश्रकाययोग, आहारककाययोग, आहारकमिश्रकाययोग और कार्मणकाययोग इस प्रकार पन्द्रह योग हैं। तथा प्रमाद के अनेक भेद हैं। ये सब कर्मों के आस्रवके कारण हैं।

ये मिथ्यात्व कषायादिक यदि तीव्र होते हैं तो तीव्र कर्मोंका आस्रव होता है और यदि मंद होते हैं तो मंद कर्मोंका आस्रव होता है। इस प्रकार आस्रव अनेक प्रकार से होता है।

किसी काम के करनेका प्रयत्न करना संरंभ है। उसके साधन इकट्ठे करना समारंभ है और उसका प्रारंभ करना आरंभ है। ये तीनों मन वचन काय से होते हैं। इसलिये इनके नौ भेद हो जाते हैं। तथा ये नौ भेदों को स्वयं करने, कराने, अनुमोदना करने से सत्ताईस भेद हो जाते हैं। ये सत्ताईस भेद क्रोध मान माया लोभ इन चारों कषायों से होते हैं। इसलिये एक सौ आठ भेद हो जाते हैं। इन एक सौ आठ भेदों से प्रत्येक जीवके प्रत्येक समय में कर्मोंका आस्रव होता रहता है। इस आस्रवको दूर करने के लिये एक सौ आठ दाने की माला बनाई गई है जिसके द्वारा तीनों समय वा कम से कम दोनों समय जप किया जाता है तथा उस जपके साथ ध्यान किया जाता है। यह आस्रव का सामान्य स्वरूप है।

अब आगे पृथक् पृथक् कर्मोंके पृथक् पृथक् आस्रव बतलाते हैं।

ज्ञानावरण व दर्शनावरणकर्मके आस्रव—किसी ज्ञान में दोष लगाना, ज्ञानको छिपा लेना, ज्ञानियों से ईर्ष्या करना, किसी पठन-पाठन में विघ्न डालना, ज्ञानदानका निषेध करना, ज्ञान को अज्ञान बतलाना, मिथ्या उपदेश देना, ज्ञानियों का अपमान करना, अपने ज्ञानका अभिमान करना, सम्यग्दृष्टियों को दोष लगाना आदि ज्ञान दर्शन को घात करने वाले जितने कार्य हैं वे सब ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्म के आस्रव के कारण हैं।

सातावेदनीयके—जीवों पर दया करना, व्रती लोगों पर विशेष दया करना, अनुराग पूर्वक संयम पालन करना, दान देना, क्षमा धारण करना, लोभ का त्यागकर आत्माको पवित्र रखना, अरहंत देवकी पूजा करना, मुनियों की वैयावृत्य करना आदि।

असाता वेदनीय के कारण—स्वयं दुःखी होना, दूसरों को दुख देना, शोक करना कराना, संताप करना कराना, रोना रुलाना, मारना अत्यंत रोना, ताडना करना, धिक्कार देना बडा आरंभ करना, अनर्थदंड के कार्य करना आदि दुख उत्पन्न करने वाले समस्त कार्य असाता वेदनीय के कारण हैं।

दर्शन मोहनीय—केवली भगवान, जिन शास्त्र, मुनि, श्रावकों का संघ, धर्म और देव इनकी निंदा करना, मिथ्या आरोप लगाना आदि सम्यग्दर्शन को घात करने वाले कार्य दर्शन मोहनीय के कारण हैं।

चारित्रमोहनीय—कषायों के उदय से उत्पन्न होने वाले तीव्र परिणाम चारित्र मोहनीय के कारण हैं। इसके सिवाय चारित्र को घात करनेवाले जितने परिणाम या कार्य हैं वे सब चारित्र मोहनीय के कारण हैं।

नरकायु के कारण—बहुत सा आरंभ और बहुतसा परिग्रह रखना, मिथ्यादर्शन तथा हिंसा आदि के जितने साधन हैं सब नरकायु के कारण हैं।

तिर्यंचायु—मायाचारी करना, शील में दोष लगाना, श्रेष्ठगुणों का लोप करना आदि तिर्यंचायु के कारण हैं।

मनुष्यायु—थोडा आरंभ, थोडा परिग्रह, शील, संतोष, हिंसा का त्याग, स्वभाव से ही कोमल परिणामों का होना आदि मनुष्यायु का कारण है।

देवायु—अनुराग पूर्वक संयम, संयमासंयम अकामनिर्जरा, बाल वा अज्ञानता पूर्वक तप करना आदि देवायु का कारण है। सम्यग्दर्शन वैमानिक देवायु का कारण है।

अशुभ नाम—मन वचन काय तीनों योगों की कुटिलता धार्मिक कार्यों में परस्पर झगड़ा करना, मिथ्यादर्शन चुगली आदि अशुभ नाम के कारण हैं।

शुभ नाम—इनसे विपरीत मनवचन काय को सरल रखना धार्मिक कार्यों में कोई झगड़ा न करना, सम्यक्त्व को शुद्ध रखना आदि शुभ नाम का कारण है।

नीचगोत्र—दूसरों की निंदा करना, अपनी प्रशंसा करना, श्रेष्ठ गुणों को ढकना, अवगुणों को प्रकट करना, अभिमान करना आदि नीच गोत्र के कारण हैं।

ऊंच गोत्र—दूसरों की निंदा न करना, अपनी प्रशंसा न करना श्रेष्ठ गुणों को प्रकट करना, अवगुणों को ढकना, अभिमान न करना, विनय से रहना आदि ऊंच गोत्र के कारण हैं।

अंतराय—दान लाभ भोग उपभोग वीर्य आदि में विघ्न करना अंतराय का कारण है।

तीर्थंकरनामकर्म—सम्यग्दर्शन को विशुद्ध रखना, विनय धारण करना, व्रत और शीलों को अतिचार रहित पालन करना, सदाकाल ज्ञानाभ्यास में लीन रहना, संसार से भयभीत रहना, शक्ति के अनुसार त्याग करना, तप करना, मुनियों की आपत्तियों को दूर करना, वैयावृत्य करना, अरहंत भगवान की भक्ति करना, आचार्य भगवान की भक्ति करना, उपाध्याय की भक्ति करना, शास्त्र की भक्ति करना, आवश्यकों को अवश्य करना, जिन मार्ग की प्रभावना करना, साधर्मी लोगों में अनुराग करना ये सोलह कारण तीर्थंकर प्रकृति के कारण हैं। इनको पूर्ण रीति से पालन करने से यह जीव तीर्थंकर होता है। इस प्रकार संक्षेप से आस्रव का स्वरूप है।

बंधतत्त्व

दो पदार्थों के मिलने को बंध कहते हैं। आस्रव के द्वारा जो

कर्म आते हैं उन कर्मों के प्रदेश तथा आत्मा के प्रदेश जो परस्पर मिल जाते हैं उसको बंध कहते हैं। यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि कर्म एक प्रकार के पुद्गल की वर्गणा हैं। जिस समय यह जीव राग द्वेष वा अन्य किसी विकार रूप परिणत होता है उसी समय वे कर्म-वर्गणा चारों ओर से आकर आत्मा के प्रदेशों के साथ संबंधित हो जाती हैं। जिस प्रकार चिकने पदार्थ पर धूल जम जाती है उसी प्रकार राग द्वेष मोहरूप आत्मा में ही कर्म वर्गणाएं संबंधित होती हैं। जो आत्मा राग द्वेष मोह से सर्वथा रहित है ऐसे आत्मा पर उन कर्म-वर्गणाओं का कोई प्रभाव नहीं पडता। यही कारण है कि शुद्ध आत्मा में कर्मों का बंध नहीं होता। यह संसारी आत्मा प्रत्येक समय में किसी न किसी विकार से विकृत होता रहता है इसलिये यह कर्मका बंध प्रत्येक समय में होता रहता है। कोई ऐसा समय नहीं है जिस समय संसारी आत्मा के कर्मोंका बंध न होता हो।

यह कर्मोंका बंध चार प्रकार है। प्रकृतिबंध, स्थितिबंध, अनुभागबंध और प्रदेशबंध। प्रकृति शब्दका अर्थ स्वभाव है, जैसे गुडका स्वाभाव मीठा है उसी प्रकार ज्ञानावरण का स्वभाव ज्ञान को ढकलेना है। दर्शनावरण का स्वभाव दर्शन को ढक लेना है। इसी प्रकार अन्य प्रकृतियों का स्वभाव है। इस प्रकृति बंध के आठ भेद हैं। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु नाम, गोत्र, अंतराय।

जो ज्ञानको ढक लेवे वह ज्ञानावरण है। उसके पांच भेद हैं:—
मतिज्ञानावरण—जो मतिज्ञान को ढक ले श्रुतज्ञानावरण—जो श्रुत

ज्ञान को ढक ले, अवधिज्ञानावरण-जो अवधिज्ञान को ढक ले, मनःपर्ययज्ञानावरण-जो मनः पर्यय ज्ञानको ढक ले, केवलज्ञानावरण-जो केवल ज्ञान को ढक ले।

दर्शनावरण—इसके नौ भेद हैं यथा—

चक्षुदर्शनावरण—जो चक्षु से होने वाले दर्शन को ढकले—न होने दे।

अचक्षुदर्शनावरण—जो शेष और इन्द्रियों से होने वाले दर्शन को ढकले। (स्पर्शन रसना घ्राण श्रोत्र इन चारों इन्द्रियों से होने वाले सामान्य अवबोध को अचक्षु दर्शन कहते हैं)

अवधिदर्शनावरण—जो अवधि दर्शन को ढकले।

केवलदर्शनावरण—जो केवल दर्शनको ढकले।

निद्रा—जिसके उदय से नींद आजाय।

निद्रानिद्रा—जिसके उदय से नींद लेने पर भी फिर नींद आजाय।

प्रचला—जिसके उदय से बैठे ही बैठे सो जाय।

प्रचलाप्रचला—जिसके उदय से बैठे ही बैठे गहरी नींद आजाय लार टपकने लगे।

स्त्यानगृद्धि—जिसके उदय से ऐसी नींद आवे जिसमें अपनी शक्ति के बाहर काम करले और जगने पर मालूम भी न पड़े। इस प्रकार दर्शनावरण के नौ भेद हैं।

वेदनीय—जिसके उदय से सुख वा दुःख का अनुभव हो। इसके दो भेद हैं। साता वेदनीय और असाता वेदनीय।

सातावेदनीय—जिसके उदय से सुखका अनुभव हो।

असातावेदनीय—जिसके उदय से दुःखका अनुभव हो।

मोहनीय—जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को प्रकट न होने दे या आत्मा को मोहित करदे। इसके दो भेद हैं। एक दर्शन मोहनीय दूसरा चारित्र मोहनीय।

दर्शन मोहनीय—जो आत्मा के सम्यग्दर्शन गुण को प्रकट न होने दे। इसके तीन भेद हैं मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृतिमिथ्यात्व।

मिथ्यात्व—जिसके उदय से देव शास्त्र गुरु वा तत्त्वों का विपरीत श्रद्धान हो अथवा जिसके उदय से सम्यग्दर्शन प्रकट न हो। यह मिथ्यात्व कर्म तीव्र पापबंध का कारण है।

सम्यग्मिथ्यात्व—जिसके उदय से सम्यक्त्व और मिथ्यात्व के मिले हुए एक प्रकार के विलक्षण परिणाम हों। इसके उदय से भी तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान नहीं होता। इसलिये वह भी मिथ्यात्व में ही अंतर्भूत है।

सम्यक्-प्रकृति-मिथ्यात्व—जिसके उदय से सम्यग्दर्शन में दोष उत्पन्न हों, यथार्थ श्रद्धान चलायमान हो जाय वा मलिन हो जाय अथवा श्रद्धान में दृढ़ता न रहे। दोष उत्पन्न करने पर भी

यह कर्म सम्यग्दर्शन को नष्ट नहीं कर सकता। इस प्रकार दर्शन मोहनीय के तीन भेद बतलाये।

चारित्र मोहनीय—जिसके उदय से यह आत्मा सम्यक् चारित्र धारण न कर सके। इस चारित्र मोहनीय के पचीस भेद हैं। यथा-

अनंतानुबंधी-क्रोध-मान-माया-लोभः—जिनके उदय से सम्यग्दर्शन प्रकट न हो। जो अनंत संसार का बंध करें ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभ अनंतानुबंधी-क्रोध-मान-माया-लोभ कहलाते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण-क्रोध-मान-माया-लोभः—जिनके उदय से श्रावकों का एक देश चारित्र न हो सके।

प्रत्याख्यानावरण-क्रोध-मान-माया-लोभः—जिनके उदय से मुनियों का सकल चारित्र न हो सके।

संज्वलन-क्रोध-मान-माया-लोभः—जिनके उदय से यथाख्यात चारित्र न हो सके।

इस प्रकार ये सोलह कषाय वेदनीय कहलाते हैं।

हास्य—जिसके उदय से हंसी आवे।

रति—जिसके उदय से अनुराग हो।

अरति—जिसके उदय से अरति वा द्वेष हो।

शोक—जिसके उदय से शोक हो।

भय—जिसके उदय से भय हो।

जुगुप्सा—जिसके उदय से जुगुप्सा वा ग्लानि हो।

स्त्रीवेद—जिसके उदय से स्त्री की पर्याय प्राप्त हो।

पुरुषवेद—जिसके उदय से पुरुष को पर्याय प्राप्त हो।

नपुंसकवेद—जिसके उदय से नपुंसक हो।

ये नौ नो—कषाय कहलाते हैं। इसप्रकार चारित्र मोहनीय के पचीस भेद बतलाये। दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय के अट्ठाईस भेद हुए।

आयुकर्म—जिसके उदय से यह जीव किसी एक पर्याय में टिका रहे। इस के चार भेद हैं:—

नरकायु—जिसके उदय से यह जीव नारकियों के शरीर में टिका रहे।

तिर्यंचायु—जिसके उदय से यह जीव तिर्यंच वा पशु पांखयों के शरीर में टिका रहे।

मनुष्यायु—जिसके उदय से यह जीव मनुष्यों के शरीर में टिका रहे।

देवायु—जिसके उदय से यह जीव देवों के शरीर में टिका रहे।

नामकर्म—जिसके उदय से शरीर आदि की रचना होती हो। इसके तिरानवे भेद हैं:—

गति चार, जाति पांच, शरीर पांच, अंगोपांग तीन, निर्माण दो, बंधन पांच, संघात पांच, संस्थान छह, संहनन छह, स्पर्श आठ, रस पांच, गंध दो, वर्ण पांच, आनुपूर्वी चार, अगुरुलघु, उपघात, परघात, आतप, उद्योत, उच्छ्वास, विहायोगति प्रत्येक शरीर, साधारण शरीर, त्रस, स्थावर, सुभग, दुर्भग, शुभ, अशुभ, सुस्वर, दुःस्वर, सूक्ष्म, स्थूल, पर्याप्तक, अपर्याप्तक, स्थिर, अस्थिर, आदेय, अनादेय, यशःकीर्त्ति, अयशःकीर्त्ति, तीर्थंकर।

गति—जिसके उदय से शरीर का आकार बने। इसके चार भेद हैं। नरकगति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगति।

नरकगति—जिसके उदय से शरीर का आकार नारकियों का सा हो जाय।

तिर्यंचगति—जिसके उदय से शरीर का आकार तिर्यंचों का सा हो जाय।

मनुष्यगति—जिसके उदय से शरीर का आकार मनुष्यों का सा हो जाय।

देवगति—जिसके उदय से शरीर का आकार देवों का सा हो जाय।

जाति—जिसके उदय से किसी रूप से समानता हो। इसके पांच भेद हैं:—एकेन्द्रियजाति, दोइन्द्रियजाति तेइन्द्रियजाति चौइन्द्रियजाति तथा पंचेन्द्रियजाति।

एकेन्द्रियजाति—जिसके उदय से एक स्पर्शन इन्द्रिय को धारण करनेवाला शरीर प्राप्त हो।

दोइन्द्रियजाति—जिसके उदय से स्पर्शन रसना इन दो इन्द्रियों को धारण करने वाला शरीर प्राप्त हो।

तेइन्द्रिय जाति—जिसके उदय से स्पर्शन रसना घ्राण इन तीन इन्द्रियों को धारण करने वाला शरीर प्राप्त हो।

चौइन्द्रिय जाति—जिससे उदय से स्पर्शन रसना घ्राण चक्षु इन चार इन्द्रियों को धारण करने वाला शरीर प्राप्त हो।

पंचेन्द्रिय जाति—जिसके उदय से पांचों इन्द्रियों का धारण करने वाला शरीर प्राप्त हो।

शरीर—जिसके उदय से शरीर प्राप्त हो। इसके पांच भेद हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण।

औदारिक—जिसके उदय से मनुष्य और तिर्यंचों का उदार वा स्थूल शरीर प्राप्त हो।

वैक्रियिक—जिसके उदय से देव वा नारकियों का विक्रिया-युक्त वैक्रियिक शरीर प्राप्त हो। यह शरीर छोटा बड़ा दृष्टिगोचर, अदृष्टिगोचर, एक वा अनेक रूप हो सकता है।

आहारक—जिसके उदय से ऋद्धिधारी मुनियों के आहारक नाम का अत्यंत सूक्ष्म श्वेतवर्ण शरीर प्रगट होता है, जो मस्तक से

निकलकर जहां केवली भगवान होते हैं वहां तक जाता है इसके साथ आत्मा के प्रदेश भी जाते हैं। तथा भगवान के दर्शन करने मात्र से उन मुनियों के हृदय की शंकाएँ दूर हो जाती हैं और फिर वह शरीर लौटकर उसी शरीर में समा जाता है। यह सब काम अंतर्मुहूर्त्त में हो जाता है।

तैजस—जिसके उदय से शरीर में तेज बना रहता है।

कार्माण—कर्मों के समुदायको कहते हैं। इसके उदय से विग्रह गति में भी गमन और कर्मका बंध होता रहता है।

आंगोपांग—जिसके उदयसे शरीर के अंग और उपांग बनते हों। इसके तीन भेद हैं। औदारिक, वैक्रियिक और आहारक।

औदारिक आंगोपांग—जिसके उदय से औदारिक शरीर के अंग-उपांग बनते हैं।

वैक्रियिक आंगोपांग—जिसके उदयसे वैक्रियिक शरीर के अंग उपांग बनते हों।

आहारक आंगोपांग—जिसके उदय से आहारक शरीर के अंग उपांग बनते हों।

निर्माण—जिस कर्म के उदय से अंग उपांग इन्द्रियां आदि अपने अपने स्थान पर और अपने अपने प्रमाण से बने। इनके दो भेद हैं:—स्थाननिर्माण प्रमाण, निर्माण।

स्थाननिर्माण—जिसके उदय से अंग उपांग इन्द्रियां आदि अपने अपने स्थान पर बने।

प्रमाण निर्माण— जिसके उदय से अंग उपांग इन्द्रियां आदि अपने अपने प्रमाण से बने।

बंधन—जिसके उदय से शरीरों के परमाणु आपसमें मिल जाते हैं। इसके पांच भेद हैं—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस, कार्माण।

औदारिक बंधन—जिसके उदय से औदारिक शरीर के परमाणु आपस में मिल जांय। इसी प्रकार अन्य बंधन समझ लेना चाहिये।

संघात—जिसके उदय से औदारिक आदि पांचों शरीर के परमाणु बिना छिद्र के एक रूप में मिल जांय। इसके भी औदारिक आदि पांच भेद हैं।

संस्थान—जिसके उदय से शरीरका आकार बने। इसके छह भेद हैं। समचतुरस्रसंस्थान, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वस्तिक, कुब्जक, वामन और हुंडक।

समचतुरस्रसंस्थान—जिसके उदय से शरीर का आकार ऊपर नीचे बीच में जहां, जैसा, जितना चाहिये उतने ही प्रमाण से बने।

न्यग्रोधपरिमंडल—जिसके उदय से वट वृक्षके समान नीचेका भाग छोटा हो और ऊपर का भाग बडा हो।

स्वस्तिक—जिसके उदय से खजूर वृक्षके समान नीचे का भाग बड़ा हो और ऊपर का भाग छोटा हो।

कुब्जक—जिसके उदय से कुबड़ा शरीर प्राप्त हो।

वामन—जिसके उदय से बौना—बहुत छोटा शरीर प्राप्त हो।

हुंडक—जिसके उदय से शरीर का भाग कोई छोटा हो कोई बड़ा हो तथा कोई कम और कोई अधिक हो

संहनन—जिसके उदय से हड्डियों का बंधन बलिष्ट हो। इसके छह भेद हैं। वज्रवृषभनाराच संहनन, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्ध-नाराच, कीलक और असंप्राप्तासृपाटक।

वज्रवृषभनाराच—जिसके उदय से वज्रमय हड्डियां वज्रमय वेष्टन और वज्र की कीलियां होती हों।

वज्रनाराच—जिसके उदय से वज्रकी हड्डियां, वज्रकी कीलियां हों, वेस्टन वज्रके नहीं हों।

नाराच—जिसके उदय से हड्डियों में वेष्टन और कीलियां लगी हों।

अर्द्धनाराच—जिसके उदय से हड्डियों की संधियां अर्द्ध-कीलित होती हैं अर्थात् हड्डियों के जोडपर एक ओर आधी दूरतक कीलें होती हैं एक ओर नहीं।

कीलक—जिसके उदय से हड्डियों की संधियां कीलों से जुडी हों।

असंप्राप्तासृपाटक—जिसके उदय से हड्डियों की संधियां नसों से और मांस से जुडी हों उनमें कीलें नहीं होतीं।

स्पर्श—जिसके उदय से शरीर का स्पर्श हो। इसके आठ भेद हैं:- हलका, भारी, नरम, कठोर, रूखा, चिकना, ठंडा, गर्म।

हलका—जिसके उदय से शरीरका स्पर्श हलका हो।

भारी—जिसके उदय से शरीर का स्पर्श भारी हो।

नरम—जिसके उदय से शरीर का स्पर्श नरम हो।

कठोर—जिसके उदय से शरीर का स्पर्श कठोर हो।

रूखा—जिसके उदय से शरीर का स्पर्श रूखा हो।

चिकना—जिसके उदय से शरीर का स्पर्श चिकना हो।

ठंडा—जिसके उदय से शरीर का स्पर्श ठंडा हो।

गर्म—जिसके उदय से शरीर का स्पर्श गर्म हो।

रस—जिसके उदय से शरीर में रस हो। इसके पांच भेद हैं। आम्ल, मिष्ट, कटु, कषाय, तिक्त।

आम्ल—जिसके उदय से शरीर का रस खट्टा हो।

मिष्ट—जिसके उदय से शरीर का रस मीठा हो।

कटु—जिसके उदय से शरीर का रस कड़वा हो।

कषाय—जिसके उदय से शरीर का रस कषायला हो।

तिक्त—जिसके उदय से शरीर का रस चरपरा हो।

गंध—जिसके उदय से शरीर में गंध हो। इस के दो भेद हैं:- सुगंध दुर्गंध।

सुगंध—जिसके उदय से शरीर में सुगंध हो।

दुर्गंध—जिसके उदय से शरीर में दुर्गंध हो।

वर्ण—जिसके उदय से शरीर में वर्ण हो। इस के पांच भेद हैं:- कृष्ण पीत नील रक्त श्वेत।

कृष्ण—जिसके उदय से शरीर का वर्ण काला हो।

पीत—जिसके उदय से शरीर का वर्ण पीला हो।

नील—जिसके उदय से शरीर का वर्ण नीला हो।

रक्त—जिसके उदय से शरीर का वर्ण लाल हो।

श्वेत—जिसके उदय से शरीर का वर्ण श्वेत हो।

आनुपूर्वी—जिसके उदय से विग्रह * गति में आत्मा का आकार पहले शरीर के आकार का बना रहे। इस के चार भेद हैं। नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यंचगत्यानुपूर्वी, मनुष्यगत्यानुपूर्वी और देवगत्यानुपूर्वी।

---

* जब यह संसारी आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा शरीर धारण करने के लिये जाता है तब कोई जीव तो उसी समय में पहुंच जाता है, किसी को एक समय, किसी को दो समय और किसी को तीन समय लगते हैं। आत्मा के इस प्रकार गमन करने को विग्रह गति कहते हैं।

नरकगत्यानुपूर्वी—जब कोई मनुष्य वा तिर्यंच मरकर नरक गति में उत्पन्न होने के लिये गमन करता है तब उस आत्मा का आकार विग्रहगति में मनुष्य वा तिर्यंच के शरीर का सा ही रहता है। यह नरकगत्यानुपूर्वी कर्म के उदय से ही बना रहता है। नरक में पहुंचने पर उस आत्मा का आकार नारकी का हो जाता है।

तिर्यंचगत्यानुपूर्वी—जिसके उदय से तिर्यंच में उत्पन्न होने वाले आत्मा का आकार विग्रहगति में पहले शरीर का आकार बना रहे।

मनुष्यगत्यानुपूर्वी—जिसके उदय से मनुष्य गति में उत्पन्न होने वाले आत्मा का आकार विग्रहगति में पहले शरीर का आकार बना रहे।

देवगत्यानुपूर्वी—जिसके उदय से देव गति में उत्पन्न होने वाले आत्मा का आकार विग्रहगति में पहले शरीर का आकार बना रहे।

अगुरुलघु—जिसके उदय से यह शरीर न तो नीचे गिरने योग्य भारी हो और न ऊपर उड जाने योग्य हलका हो।

उपघात—जिसके उदय से अपने शरीर के अंग उपांग अपना ही घात करने वाले हों।

परघात—जिसके उदय से शरीर के अग उपांग दूसरों का घात करने वाले हों।

आतप—जिसके उदय से शरीर गर्म और प्रकाश रूप हो।

उद्योत—जिसके उदय से शरीर ठंढा और प्रकाश रूप हो।

विहायोगति—जिसके उदय से यह जीव आकाश में गमन करे। (पृथ्वी पर चलना भी आकाश में गमन करना है, यह दो प्रकार है:- शुभ एवं अशुभ। घोड़ा हाथी का गमन शुभ है गधा ऊंट का अशुभ है)।

उच्छ्वास—जिसके उदय से जीव श्वासोच्छ्वास लेता है।

प्रत्येक शरीर—जिसके उदय से यह जीव एक ही शरीर का स्वामी होता है।

साधारण—जिसके उदय से एक शरीर के स्वामी अनेक जीव होते हैं।

त्रस—जिसके उदय से यह जीव दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौ इन्द्रिय, पंच इन्द्रिय में जन्म लेता है।

स्थावर—जिसके उदय से यह जीव एकेन्द्रिय में जन्म ले।

सुभग—जिसके उदय से अन्य जीव अपने से अनुराग करने लगे

दुर्भग—जिसके उदय से अन्य जीव बिना कारण ही द्वेष करने लगे।

शुभ—जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर हों।

अशुभ—जिसके उदय से शरीर के अवयव सुन्दर न हों।

सुस्वर—जिसके उदय से स्वर मीठा हो।

दुःस्वर—जिसके उदय से स्वर मीठा न हो।

सूक्ष्म—जिसके उदय से शरीर अत्यंत सूक्ष्म हो जो न किसी से रुके न किसीको रोक सके, लोहा पत्थर में से भी निकल जाय।

स्थूल—जिसके उदय से शरीर स्थूल हो, जो दूसरे से रुक जाय वा दूसरे को रोक सके। इसको बादर भी कहते हैं।

पर्याप्तक—जिस के उदय से पर्याप्तियों × की पूर्णता प्राप्त हो।

अपर्याप्ति—जिसके उदय से पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले ही मरण हो जाय, पर्याप्ति पूर्ण न हों।

स्थिर—जिसके उदय से धातु उपधातु अपने ठिकाने पर बने रहें, अनेक उपवास करने पर भी विचलित न हों।

× पर्याप्त छह हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन। एकेन्द्रिय जीवों के आहार शरीर इन्द्रिय श्वासोच्छ्वास ये चार पर्याप्तियां होती हैं। दो इन्द्रिय ते इन्द्रिय चौ इन्द्रिय और असैनी पंचेन्द्रिय जीवों के भाषा मिला कर पांच पर्याप्तियां होती हैं। और सैनी पचेन्द्रिय जीवों के छहों पर्याप्ति होती हैं, जन्म लेने के स्थान पर पहुंचने के अन्तर्मुहूर्त बाद ही सब पर्याप्तियां पूर्ण हो जाती हैं।

अस्थिर—जिसके उदय से धातु उपधातु अपने ठिकाने पर न रहें, विचलित हो जांय।

आदेय—जिसके उदय से शरीर पर प्रभा और कांति रहे।

अनादेय—जिसके उदय से शरीर पर प्रभा और कांति न रहे।

यशः कीर्ति—जिसके उदय से संसार में कीर्ति फैले।

अयशः कीर्ति - जिसके उदय से संसार में अपयश फैले।

तीर्थकरत्व—जिसके उदय से अरहंत पद में भी तीर्थंकर पद प्राप्त हो।

इस प्रकार नाम कर्म की तिरानवे प्रकृतियां हैं और वे अपने अपने उदय के अनुसार काम करती हैं।

गोत्र कर्म—जिसके उदय से ऊँच नीच गोत्र प्राप्त हो। इसके दो भेद हैं:—ऊंच गोत्र, नीच गोत्र।

ऊंच गोत्र—जिसके उदय से लोकमान्य ऊंचे कुल में उत्पन्न हो।

नीच गोत्र—जिसके उदय से लोक-निंदित नीच कुल में उत्पन्न हो।

अंतराय कर्म—जिसके उदय से विघ्न आजांय। इसके पांच भेद हैं:— दानांतराय, लाभांतराय, भोगांतराय, उपभोगांतराय, वीर्यांतराय।

दानांतराय—जिसके उदय से दान देने में विघ्न आजाय, दान न देसके।

भोगांतराय—जिसके उदय से भोगों में विघ्न आजाय, भोगों की प्राप्ति न हो सके।

उपभोगांतराय-जिसके उदय से उपभोगों में विघ्न हो जाय, उपभोग प्राप्त न हो सके।

लाभांतराय-जिसके उदय से लाभ में विघ्न आजाय, लाभ न हो सके।

वीर्यान्तराय-जिसके उदय से वीर्य वा शक्ति में विघ्न आजाय, शक्ति वा बल प्राप्त न हो सके।

स्थितिबन्ध

ऊपर प्रकृतिबन्ध का स्वरूप लिख चुके हैं। वे कर्म इस जीव के साथ कितने दिन तक ठहरते हैं यह बतलाना ही स्थितिबन्ध है। स्थितिबन्ध कषायों से विशेष सम्बन्ध रखता है। यदि कषाय अत्यन्त तीव्र होते हैं तो स्थिति भी अधिक पड़ती है और कषायों के मन्द होने से स्थिति कम पड़ती है। जैसे कषाय होते हैं वैसे ही स्थिति होती है।

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय और अन्तराय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति तीस कोडाकोडी सागर है। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर है। नाम गोत्र की वीस

कोड़ाकोड़ी सागर है। और आयु की तेतीस सागर है। वेदनीय कर्म की जघन्य स्थिति बारह मुहूर्त है, नाम गोत्र की जघन्य स्थिति आठ मुहूर्त है और शेष कर्मों की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। यह जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति है। मध्यके अनेक भेद हैं।

अनुभागबन्ध

कर्म जो अपना फल देते हैं उसको अनुभाग कहते हैं। जिस समय कर्मों का बन्ध होता है उसी समय उन कर्मों में स्थितिबन्ध पड़ जाता है और उसी समय फल देने की शक्ति हो जाती है। उस शक्ति को ही अनुभागबन्ध कहते हैं। यह अनुभागबन्ध भी कषायों से होता है। जैसे कषाय होते हैं वैसे ही उनमें फल देने की शक्ति पड़ जाती है। तीव्र कषायों से तीव्र फल मिलता है और मन्द कषायों से मन्द फल मिलता है। इस प्रकार इन कर्मों में जो फल देने की शक्ति पड़ जाती है उसको अनुभाग बन्ध कहते हैं।

प्रदेशबन्ध

यह बात पहले बता चुके हैं कि कर्मों का आस्रव और बन्ध प्रत्येक समय में होता रहता है तथा प्रत्येक समय में अनन्तानन्त वर्गणाएं आती रहती हैं। वे सब वर्गणाएं आत्माके प्रत्येक प्रदेश में मिलकर एक रूप हो जाती हैं। इस प्रकार प्रत्येक समय में अनन्तानन्त प्रदेश आते रहते हैं। इसीको प्रदेशबन्ध कहते हैं।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि प्रत्येक समयमें अनन्तानन्त वर्गणाएं आती रहती हैं और पिछले कर्मों की अनन्तानन्त वर्गणायें खिरती रहती हैं। कर्मों का उदय प्रत्येक समय में होता रहता है तथा उदय होने पर अपना फल देकर खिर जाते हैं वा नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मा में कर्मों का सत्त्व अनन्तानन्त रूप से ही बना रहता है।

जिस प्रकार स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध कषायों से होते हैं उसी प्रकार प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध मन वचन काय के योगों से होते हैं।

इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप से बन्धतत्त्व का निरूपण किया।

संवर तत्त्व

आस्रव के रुकजाने को संवर कहते हैं। पहले जो आस्रव के कारण बतलाये हैं उनको न होने देने से आस्रव रुक जाता है और आस्रव का रुक जाना ही संवर है। वह संवर गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा परिषह जय और चारित्र से होता है। इन सबका स्वरूप पहले कहा जा चुका है, वहां से समझ लेना चाहिये।

निर्जरा तत्त्व

आस्रव के रुक जाने पर जो एक देश कर्मों का क्षय होता रहता है उसको निर्जरा कहते हैं। इसके सविपाक और अविपाक

दो भेद हैं। जो कर्म अपना फल देकर नष्ट होते रहते हैं वह सविपाक निर्जरा है। इस निर्जरा से कोई लाभ नहीं होता। तपश्चरण आदि के द्वारा जो कर्म बिना फल दिये नष्ट हो जाते हैं उसको अविपाक निर्जरा कहते हैं। यह अविपाक निर्जरा ही आत्माका कल्याण करने वाली और मोक्ष प्राप्त कराने वाली होती है। निर्जरा संवर पूर्वक होती है वही मोक्ष देने वाली होती है।

मोक्ष तत्त्व

संवर निर्जरा के होते हुए जो समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं उसको मोक्ष कहते हैं। समस्त कर्म नष्ट हो जाने पर यह आत्मा अत्यन्त शुद्ध होजाता है। शुद्ध, बुद्ध, निरंजन, चिदानन्दस्वरूप वीतराग, सर्वज्ञ शरीर रहित, राग द्वेष इच्छा आदि समस्त विकारों से रहित हो जाता है। तथा फिर उसमें अनन्तानन्त काल तक भी कभी कोई किसी प्रकार का विकार नहीं होता। फिर वह संसार में कभी परिभ्रमण नहीं करता। संसार में सबसे बड़ा कार्य कर्मों का नाश कर मोक्ष प्राप्त कर लेना है। वह मोक्ष उसे प्राप्त हो चुकी इसलिये वह सिद्ध कहलाता है।

इस आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करना है। जिस प्रकार अग्नि की ज्वाला ऊपर को ही जाती है उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव भी ऊर्ध्वगमन करना है। संसार में परिभ्रमण करता हुआ यह जीव कर्मों के निमित्त से चारों दिशाओं में गमन करता था, कर्म नष्ट हो जाने पर बिना वायु के अग्नि की ज्वाला के

समान ऊर्ध्वगमन करता ही है। यह पहले बता चुके हैं कि जीव और पुद्गलों के गमन कराने में धर्मद्रव्य लोकाकाश में व्याप्त होकर भरा हुआ है। यही कारण है कि मुक्त हुआ जीव लोकाकाश के अन्त तक जाता है और जिस समय में मुक्त होता है उसी समय में पहुंच जाता है। यद्यपि उसमें अनन्त शक्ति है उसी समय में वह अनन्तानन्त लोकाकाशों को भी पार कर सकता है, परन्तु धर्म द्रव्य के बिना वह लोकाकाश के आगे नहीं जा सकता, वहीं रुक जाता है और अनन्तानन्त काल तक वहीं रहता है। वह शुद्ध आत्मा अपने शुद्ध आत्मा में ही लीन रहता है। इस-लिये वह अनन्त सुखी रहता है। ऐसे शुद्ध मुक्त आत्मा को ही सिद्ध परमेष्ठी कहते हैं।

कर्म सिद्धान्त

इस संसार में पुद्गल वर्गणाएं अनेक प्रकार की हैं। कुछ ऐसी हैं जिनसे औदारिक, वैक्रियिक आहारक शरीर बनते हैं; कुछ ऐसी हैं जिनसे अक्षरात्मक शब्द बनते हैं, कुछ वर्गणाएं ऐसी हैं जिनसे मन बनते हैं, कुछ वर्गणाएं ऐसी हैं जिनसे तैजस शरीर बनता है और कुछ वर्गणाएं ऐसी हैं जिनसे कर्म बनते हैं।

जिस प्रकार सुवर्ण-खान की मिट्टी सदा से सुवर्ण मिली हुई चली आ रही है, उसी प्रकार यह संसारी जीव भी अनादि काल से कर्मों से बद्ध चला आ रहा है। कर्मों के उदय के निमित्त से

राग द्वेष मोह आदि उत्पन्न होते हैं और राग द्वेष मोह से फिर नवीन कर्म आते हैं। जिस प्रकार चिकने बर्त्तन पर धूल जम जाती है उसी प्रकार त्मा में राग द्वेष प्रगट होने पर मन वचन काय की क्रियाओं के द्वारा आई हुई कर्म-वर्गणायें आत्मा के साथ मिल जाती हैं और राग द्वेष के कारण उनमें आत्मा के साथ ठहरने और सुख दुःख देने की शक्ति पड जाती है। आत्मा के साथ मिली हुई इन्हीं कर्म वर्गणाओं को कर्म कहते हैं।

आत्मा के राग द्वेष रूप परिणाम भी अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे जैसे परिणाम होते हैं वैसे ही कर्म आते हैं वैसा ही उनमें स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध पडता है।

बन्ध तत्त्व के पढ़ने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शरीर की रचना सब नाम कर्म के उदय से होती है। भिन्न भिन्न जीवों के भिन्न भिन्न परिणाम होते हैं। मन वचन काय की क्रियाएं भी भिन्न भिन्न होती हैं इसलिए उनके कर्म भी भिन्न २ प्रकार के होते हैं। तथा उन कर्मों के उदय से भिन्न भिन्न प्रकार के सुख दुख प्राप्त होते हैं, भिन्न भिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं और शरीर के अवयवों की रचना भी सब भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य के मुख की आकृति भिन्न भिन्न है तथा हाथ पैर की रेखाएं और अंगूठा, वा उंगलियों की रेखाएं भी सब की भिन्न भिन्न हैं। एक मनुष्य के अंगूठे की रेखा दूसरे मनुष्य की रेखा से नहीं मिलती। इससे स्पष्ट सिद्ध हो

जाता है कि सुख दुख जीवन मरण हानि लाभ आदि सब अपने अपने कर्मों के उदय से होता है। यह जीव जैसा करता है वैसे ही उसके कर्म बंधते हैं और फिर उनका फल भी उसको वैसा ही भोगना पडता है। सुख दुख देने वाला वा सृष्टि की रचना करने वाला अन्य कोई नहीं है।

जिस प्रकार सोने की खानि की मिट्टी अनादि कालसे सोने से मिली हुई है तथापि तपाने, शुद्ध करने आदि प्रयत्नों के द्वारा उस मिट्टी से सोना अलग हो जाता है। उसी प्रकार यद्यपि ये संसारी जीव अनादि काल से इन कर्मों से बंधे हुए हैं तथापि प्रयत्न करने से तपश्चरण धर्म्यध्यान शुक्लध्यान के द्वारा कर्मों को नष्ट कर मुक्त वा सिद्ध हो जाते हैं तथा अनंत जीव सिद्ध हो चुके हैं।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि यद्यपि जो जीव मुक्त होते जाते हैं संसारी जीव राशि में से उतने घटते जाते हैं परंतु संसारी जीव राशि अनंतानंत है। जीव राशि कम होने पर भी वह कभी भी समाप्त नहीं होगी। जैन सिद्धांत के अनुसार निगोद राशि (अत्यंत सूक्ष्म निगोदिया जीव) इस समस्त लोकाकाश में घी से भरे हुए घडे के समान भरी हुई है। यहां तक कि सुई के अग्रभाग पर भी अनंतानंत सूक्ष्म निगोदिया जीव राशि समा जाती है। यह बात सब जानते हैं कि आलू कभी सूखता नहीं है। इसका कारण यही है कि उसमें प्रत्येक समय में अनंतानंत जीव उत्पन्न होते रहते हैं। सुई के अग्रभाग पर जितना आलू का

भाग आता है उतने में भी अनंतानंत जीव राशि रहती है। इस हिसाब से संसार में जीव राशि इतनी भरी हुई है कि वह कभी समाप्त नहीं हो सकता। यह बात नीचे लिखे उदाहरण से समझ लेना चाहिये। यह सब कोई मानता है कि आकाश अनंत है और वह चारों दिशाओं की ओर अनंत है। यदि हम किसी एक दिशा की ओर अत्यंत शीघ्र गति से गमन करें, बिजली के समान शीघ्र गति से चलने वाली किसी सवारी पर चलें तो क्या उस दिशा का अंत कभी आ सकता है। इस प्रकार यदि हम अनंतानंत काल तक चले चलें तब भी क्या उसका अंत आ सकता है? कभी नहीं। यदि मान लिया जाय कि उसका अंत आ जाता है तो फिर यह प्रश्न सहज उठता है कि उसके आगे क्या है? यदि उसके आगे कुछ नहीं है तो फिर मानना पड़ेगा कि उसके आगे भी आकाश है। इस प्रकार जो आकाश हम पीछे छोड़ते जाते हैं वह घटता जाता है तथापि उसका अंत कभी नहीं आ सकता। इसी प्रकार संसारी जीव राशि में से मुक्त होते हुए भी तथा उतने जीव घटते हुए भी संसारी जीव राशिका अंत कभी नहीं होता है।

गुणस्थान

जिस प्रकार मकान पर चढ़ने के लिये सीढ़ियां होती हैं उसी प्रकार मोक्ष महल में पहुँचने के लिये चौदह गुणस्थान बतलाये हैं। गुणों के स्थानों को गुणस्थान कहते हैं। तथा वे

अपने २ नाम के अनुसार गुणों को धारण करते हैं। गुणस्थान चौदह हैं उनके नाम इस प्रकार हैं। मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, असंयत (अविरत सम्यग्दृष्टि), संयतासंयत (विरताविरत), प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म-सांपराय, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगिकेवली, अयोगि केवली। संक्षेप से इनका स्वरूप इस प्रकार है)

१. मिथ्यात्व--दर्शनमोहनीय की मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। मिथ्यात्व के उदय से यह जीव तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान नहीं करता, विपरीत श्रद्धान करता है। एकेन्द्रिय आदि जीवों को हिताहित का ज्ञान ही नहीं होता और कोई कोई जीव जान बूझ कर विपरीत श्रद्धान करते हैं। सम्य-ग्दृष्टी थोडे से जीवों को छोडकर शेष समस्त संसारी जीव मिथ्यात्व गुणस्थान में ही रहते हैं।

२. सासादन—जिसके मिथ्यात्व कर्म का उदय तो न हो परन्तु अनंतानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन प्रकृतियों में से किसी एक का उदय आजाय तो उस समय सासादन गुणस्थान हो जाता है। जिस समय इस जीव के परिणामों में विशुद्धि होती है और सम्यग्दर्शन को घात करनेवाली मिथ्यात्व, सम्यक्-प्रकृति-मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ इन सात प्रकृतियों का उपशम होने से उपशम सम्यग्दर्शन हो जाता है। उपशम सम्यग्दर्शन का काल अन्तर्मुहूर्त्त है। उस काल की समाप्ति होने के कुछ समय पहले अनंतानुबन्धी क्रोध

मान माया लोभ में से किसी एक का उदय हो जाता है। इस गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं होता तथापि अनंतानुबन्धी के उदयसे मिथ्यात्व रूप ही परिणाम हो जाते हैं।

३. मिश्र—दर्शन मोहनीय की सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृति के उदय से यह तीसरा मिश्र गुणस्थान होता है। इसमें जीव के परिणाम न तो सम्यक्त्व रूप होते हैं और न मिथ्यात्व रूप होते हैं उस समय एक मिले हुए विलक्षण परिणाम होते हैं।

४. असंयत—मिथ्यात्व गुणस्थानवर्त्ती जीव जब सम्यग्दर्शन को घात करने वाली सातों प्रकृतियों का उपशम कर लेता है अथवा क्षय वा क्षयोपशम कर लेता है उस समय चौथा असंयत गुणस्थान होता है। यह चौथा गुणस्थान सम्यग्दर्शन के प्रकट होने पर ही होता है तथा आगे के सब गुणस्थान सम्यग्दृष्टी जीव के ही होते हैं।

५. संयतासंयत—जब चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव अप्रत्याख्याना-वरण क्रोध मान माया लोभ इन प्रकृतियों का क्षयोपशम कर लेता है तब उसके पांचवां गुणस्थान होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम होने से यह जीव श्रावक के व्रत धारण कर लेता है और ग्यारहवीं प्रतिमा तक यही पांचवां गुणस्थान रहता है।

६. संयत वा प्रमत्तसंयत—जब वह पांचवां गुणस्थानवर्ती जीव प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ कषाय के क्षयोपशम होने

से समस्त परिग्रहों का त्याग कर परम दिगम्बर अवस्था धारण कर सकल चारित्र को धारण करलेता है, मुनियों के अठाईस मूलगुणों को धारण कर लेता है तब वह छठे गुणस्थान वाला प्रमत्तसंयत कहलाता है। यहां तक अनंतानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण इन कषायों का तथा दर्शन मोहनीय का क्षय वा क्षयोपशम हो जाता है। इसलिये उसके परिणाम अत्यन्त विशुद्ध हो जाते हैं। इस गुणस्थान में वह धर्म्यध्यान का चिन्तवन करता रहता है।

७. अप्रमत्तसंयत--जब वे मुनि प्रमाद रहित हो जाते हैं तब उनके सातवां गुणस्थान हो जाता है। ध्यान करते समय छठा गुणस्थान भी रहता है और प्रमाद रहित होने पर सातवां गुणस्थान भी हो जाता है।

सातवें गुणस्थान के उपरिम भाग से आगे के गुणस्थान चढने के लिये दो मार्ग हैं। एक मार्ग उपशम श्रेणी कहलाता है और दूसरा क्षपक श्रेणी कहलाता है। उपशमश्रेणीवाला कर्मों को उपशम करता जाता है और ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँचकर उपशम किये हुए कर्मों का उदय आजाने से नीचे गिर जाता है। क्षपक श्रेणी वाला कर्मों को नाश करता जाता है और फिर दशवें गुणस्थान से आगे बारहवें गुणस्थान में पहुंच जाता है। क्षपक श्रेणीवाला किसी आयु का बन्ध नहीं करता तथा चौथे से सातवें तक अनन्तानुबन्धी और दर्शनमोहनीय का क्षय करलेता है।

८. अपूर्वकरण—सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि अधः प्रवृत्तिकरण के द्वारा आत्माके परिणामों को परम विशुद्ध करते हुए आठवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं। वहां पर उनके परिणाम अपूर्व अपूर्व विशुद्धि को धारण करते हुए और अधिक विशुद्ध हो जाते हैं। तथा अपूर्वकरण के द्वारा परम विशुद्ध होकर नौवें गुणस्थान में पहुँच जाते हैं।

९. अनिवृत्तिकरण—इस गुणस्थान में आकर अनिवृत्तिकरण के द्वारा अनेक कर्मों का नाश करता है। पहले भाग में साधारण, आतप, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय, चौइन्द्रिय जाति, निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानगृद्धि, नरकगति, नरकगत्यानुपूर्वी, स्थावर, सूक्ष्म, तिर्यंगति, तिर्यंगत्यानुपूर्वी, उद्योत, इन सोलह प्रकृतियों को नष्ट कर देता है। फिर अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ और प्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ इन आठों कषायों को नष्ट करता है। फिर तीसरे भाग में नपुंसक वेद, चौथे भाग में स्त्रीवेद, पांचवें भाग में हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा इन छह प्रकृतियों का नाश करता है। छठे भाग में पुंवेद, सातवें भाग में संज्वलन क्रोध, आठवें भाग में संज्वलन मान तथा नौवें भाग में संज्वलन माया को नाश करता है। इस प्रकार नौवें गुणस्थान में छत्तीस प्रकृतियों का काश कर वे शुक्ल-ध्यान को धारण करने वाले मुनि दशवें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान में पहुंच जाते हैं।

१०. सूक्ष्मसांपराय—इस गुणस्थान में वे मुनि सूक्ष्म लोभ का नाश कर बारहवें गुणस्थान में पहुंच जाते हैं।

११. उपशमकषाय—जो मुनि सातवें गुणस्थान से उपशम श्रेणी चढते हैं वे ऊपर लिखे अनुसार नौवें गुणस्थान में वा दशवें गुणस्थान में उन प्रकृतियों का उपशम करते जाते हैं और दशवें से ग्यारहवें में आ जाते हैं। परंतु इसका अंतर्मुहूर्त काल व्यतीत होने पर उन उपशम किये हुए कर्मों का उदय आ जाता है तथा वे मुनि कर्मों के उदय आने से नीचे के गुणस्थानों में आजाते हैं। फिर जब कभी वे क्षपक श्रेणी चढेंगे तब ही कर्मों को नाश करते हुए बारहवें गुणस्थान में पहुँचेंगे।

१२. क्षीणकषाय—इस गुणस्थान में दूसरे शुक्ल ध्यान का चिंतवन किया जाता है। पहला शुक्लध्यान श्रेणी चढने से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक होता है। दूसरे शुक्लध्यान से वे मुनि निद्रा और प्रचला प्रकृतियों को नष्ट करते हैं। फिर ज्ञानावरण की पांच प्रकृतियां दर्शनावरण की शेष चार प्रकृतियों को और अंतराय की पांच प्रकृतियों को नष्ट कर तेरहवें सयोगिकेवली गुणस्थान में पहुंच जाते हैं।

१३. सयोगिकेवली—इस गुणस्थान में केवल काय योग होता है इसलिये वे सयोगी कहलाते हैं तथा ऊपर लिखे कर्मों के सर्वथा नाश होने से वे केवली भगवान कहलाते हैं। उनका मोहनीय कर्म सब नष्ट हो जाता है इसलिये वे वीतराग कहलाते हैं। तथा ज्ञानावरण दर्शनावरण के अत्यंत क्षय होने से वे सर्वज्ञ और सर्वदर्शी कहलाते हैं। उस समय उनके अनंतज्ञान, अनंतदर्शन अनंतसुख और अनंतवीर्य ये चार अनंत चतुष्टय प्रकट हो

जाते हैं। तथा क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग, क्षायिक उपभोग और क्षायिक चारित्र को मिलाकर नौ लब्धियां प्राप्त हो जाती हैं। उस समय उनको अरहंत देव कहते हैं। उस समय उनकी उपमा किसी से नहीं दी जा सकती। समस्त उपलेपों से रहित, अत्यंत निर्मल, त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्य और पर्यायों के स्वभाव को जानने वाले देखनेवाले, और समस्त पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाले हो जाते हैं। उस समय इन्द्रादिक समस्त देव आकर उनकी पूजा करते हैं और उनके लिये समवशरण वा गंधकुटी की रचना करते हैं। शेष आयु तक वे भगवान अरहंत देव सर्वत्र विहार करते हुए धर्मोपदेश देते रहते हैं तथा सर्वज्ञ वीतराग होने के कारण उनका उपदेश यथार्थ होता है, मोक्षमार्ग को निरूपण करने वाला, और समस्त जीवों को कल्याण करने वाला होता है।

१४. अयोगिकेवली—आयु के अन्त में वे भगवान अपने योगों का निरोध करते हैं और उस समय उनके चौदहवां गुणस्थान होता है। इसका काल अ इ उ ऋ लृ ये पांच अक्षर जितने समय में बोले जाते हैं उतना ही समय है। इस गुणस्थान के उपांत्य समय में बहत्तर प्रकृतियों को नष्ट करते हैं और अन्तिम समय में तेरह प्रकृतियों को नष्ट कर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं। वे फिर सिद्ध परमेष्ठी सदा के लिये जन्म मरण रहित होकर अनन्तकाल तक मोक्ष में विराजमान होते हैं। तथा आत्मजन्य अनन्त सुख का अनुभव

करते रहते हैं। कर्मों के साथ साथ उनका शरीर भी नष्ट हो जाता है। इसलिये वे सिद्ध परमेष्ठी शुद्ध आत्ममय तथा शुद्ध केवल ज्ञानमय विराजमान रहते हैं। इस प्रकार अत्यन्त संक्षेप से गुणस्थानों का स्वरूप है।

प्रमाण नय

जीवादिक समस्त तत्त्वों का ज्ञान प्रमाण और नयों से होता है। सम्यग्ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। मिथ्याज्ञान कभी प्रमाण नहीं हो सकता। प्रमाण के दो भेद हैं:-प्रत्यक्ष और परोक्ष। अक्ष शब्द का अर्थ जानने वाला है। जाननेवाला आत्मा है। इसलिये केवल आत्मा के द्वारा जो ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष कहलाता है, और आत्मा से पर अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहलाता है। अवधिज्ञान एवं मनःपर्यय ज्ञान आत्मा से होते हैं परन्तु देश काल की मर्यादा लेकर होते हैं। इसलिये वे एक देश प्रत्यक्ष कहलाते हैं। तथा केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान दोनों परोक्ष ज्ञान हैं तथा मति स्मृति प्रत्यभिज्ञान तर्क अनुमान आगम आदि इनके भेद हैं।

प्रमाण के एक देश को नय कहते हैं। नय सब विकल्प रूप होते हैं और प्रमाण निर्विकल्प होता है। नय के सात भेद हैं- नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत।

नैगमनय—किसी कार्य के संकल्प करने को नैगम नय कहते हैं। जैसे रसोई बनाने के संकल्प में चौका देना पानी भरना

आदि भी रसोई बनाने का कार्य है और इसीलिये पानी भरते हुए भी रसोई बनाना कहना नैगमनय है।

संग्रह—अनेक पदार्थों को एक शब्द से कहना संग्रहनय है। जैसे गाय भैंस आदि सबको पशु कहना, पशु मनुष्य आदि प्राणियों को जीव कहना।

व्यवहार—संग्रह नय के द्वारा कहे हुए पदार्थों में से घटाते घटाते अंततक घटाते जाना व्यवहार नय है। जैसे जीवों में भी यह मनुष्य है यह पशु है, यह गाय है, यह सफेद गाय है आदि।

ऋजुसूत्र—वर्तमान समय की पर्याय को ऋजुसूत्र कहते हैं। इसका विषय प्रत्येक पदार्थ के प्रत्येक समय की पर्याय है। स्थूल ऋजुसूत्र नयसे मनुष्य आदि पर्याय भी इसका विषय है।

शब्दनय—लिंग संख्या कारक आदि के व्यभिचार को दूर करने वाला शब्द नय है। जैसे पुल्लिंग वा नपुंसक लिंग का पर्याय वाची स्त्री लिंग भी होता है, एकवचन का पर्यायवाची बहुवचन होता है षष्ठी विभक्ति के स्थान में द्वितीया विभक्ति हो जाती है। यह ऐसा होना व्यवहार के विरुद्ध है। क्योंकि व्यवहार से एक वचन का पर्याय वाची एक वचन और पुल्लिंग का पर्यायवाची पुल्लिंग ही होना चाहिये, परन्तु शब्द नय से ही यह अविरुद्ध माना जाता है।

समभिरूढ—किसी शब्द के अनेक अर्थ होने पर किसी एक मुख्य अर्थ को ग्रहण करना समभिरूढ नय है। जैसे गो

शब्द के गाय पृथ्वी आदि अनेक अर्थ होने पर भी गाय अर्थ ही लिया जाता है।

एवंभूत—वर्त्तमान काल की क्रिया के आश्रय से जो कहा जाता है उसको एवंभूत नय कहते हैं। जैसे राजा होने पर भी यदि वह पूजा करता है तो उसको पुजारी कहना एवंभूत नय है इस प्रकार ये सात नय हैं। अथवा

नयों के दो भेद हैं:—निश्चयनय और व्यवहारनय। जो नय अभेद विषय को कहता है वह निश्चयनय है तथा भेद विषय को कहने वाला व्यवहार नय है। निश्चय नय के दो भेद हैं:-शुद्ध निश्चयनय और अशुद्ध निश्चयनय।

शुद्धनिश्चय—कर्म की उपाधियों से रहित गुण और गुणी में अभेद मानना शुद्ध निश्चय नय है। जैसे केवलज्ञान केवलदर्शन आदि सब जीव में रहते हैं।

अशुद्ध निश्चय—कर्मों की उपाधि सहित गुण गुणी में अभेद मानना अशुद्ध निश्चय नय है। जैसे मतिज्ञान श्रुतज्ञान जीव में रहते हैं।

व्यवहार नय—दो प्रकार का है। सद्भूत-व्यवहार और [illegible] व्यवहार। किसी एक ही पदार्थ में भेद मानना [illegible] है। उसके भी [illegible] —उपचरितसद्भूत-[illegible]

उपचरित-सद्भूत-व्यवहार—कर्मों की उपाधि सहित गुण गुणी में भेद मानना उपचरितसद्भत-व्यवहार है। जैसे जीव के मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि गुण हैं।

अनुपचरित-सद्भूत-व्यवहार—कर्म की उपाधियों से रहित गुण गुणी में भेद मानना अनुपचरित-सद्भत-व्यवहार है। जैसे केवलज्ञान केवलदर्शन गुण जीव के हैं।

असद्भूत-व्यवहार के भी दो भेद हैं:—उपचारितासद्भूत-व्यवहार और अनुपचरितासद्भूत-व्यवहार।

उपचरितासद्भूत-व्यवहार—एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ मिला हुआ न होने पर भी उसका बतलाना उपचरितासद्भत-व्यवहार है। जैसे यह धन देवदत्त का है।

अनुपचरितासद्भूत-व्यवहार—कोई एक पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ से मिला हुआ होने पर उसका ही बतलाना अनुपचरिता-सद्भूत-व्यवहार है। जैसे यह शरीर जीवका है। देवदत्त का शरीर है।

इसप्रकार संक्षेप से नयों के भेद हैं। वास्तव में देखा जाय तो नयों के अनेक भेद होते हैं। जितने वचन हैं वे सब नय हैं। नयों के बिना इस संसार का काम कभी नहीं चल सकता। बिना नयों के किसी पदार्थ का स्वरूप नहीं कहा जा सकता। इसलिए इनका स्वरूप समझ लेना आवश्यक है।

निक्षेप

जिनके द्वारा पदार्थों का स्वरूप कहा जाय उनको निक्षेप कहते हैं। निक्षेप के चार भेद हैं:-नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव।

नाम निक्षेप—गुण कर्म के बिना जो व्यवहार चलाने के लिये नाम रक्खा जाता है उसको नाम निक्षेप कहते हैं। जैसे किसी का नाम नयनसुख है चाहे वह अन्धा ही हो परन्तु व्यवहार में उस को नयनसुख कहते हैं। यह नाम निक्षेप का विषय है।

स्थापना निक्षेप—किसी मूर्ति में किसी की कल्पना कर लेना स्थापना निक्षेप है। जैसे भगवान महावीर स्वामी की वैसे ही मूर्त्ति बनाकर उसमें महावीर स्वामी की स्थापना करना स्थापना निक्षेप है। यह स्थापना निक्षेप दो प्रकार का है-तदाकार और अतदाकार। जिसकी स्थापना करनी है उसकी वैसी ही मूर्ति बनाकर उसमें स्थापना करना तदाकार स्थापना है। जैसे तीर्थंकरों की मूर्ति में तीर्थंकरों की स्थापना है। महावीर स्वामी की मूर्त्ति में महावीर स्वामी की स्थापना है। जो मूर्ति उसके आकार की न हो उसमें उसकी स्थापना करना अतदाकार स्थापना है। जैसे सतरंज की गोट में हाथी घोडे बादशाह पियादे आदि की कल्पना की जाती है। इसको अतदाकार स्थापना कहते हैं।

द्रव्य निक्षेप—जो कोई मनुष्य किसी पद पर पहले हो, अब उसने वह पद छोड दिया हो अथवा जो आगामी काल में होने

वाला हो उसको वर्तमान में कहना द्रव्य निक्षेप है। जैसे पहले जो दीवान था और अब नहीं है, तथापि उसे दीवान कहना द्रव्य निक्षेप है। अथवा जो राजपुत्र राजा होने वाला है उसको पहले से ही राजा कहना द्रव्यनिक्षेप है।

भावनिक्षेप—वर्तमान में जो जैसा हो उसको वैसा ही कहना भाव निक्षेप है। जैसे जो राजा है उसको राजा कहना और जो दीवान है उसको दीवान कहना भावनिक्षेप है।

इस प्रकार ये चार निक्षेप हैं। इन निक्षेपों के विना भी संसार का कोई काम नहीं चल सकता। इसलिये इनका समझना और मानना अत्यावश्यक है। संसार में मूर्ति-पूजा ऐसी उत्कट पुण्य को बढ़ाने वाली मुख्य धर्म की प्रवृत्ति इन्हीं निक्षेपों से हुई है और हो सकती है। इन निक्षेपों के बिना न तो किसी का नाम रख सकते हैं, न मूर्ति पूजा ऐसा पवित्र और पुण्योत्पादक कार्य कर सकते हैं। और पद छोड़ने पर भी दरोगाजी वा दीवानजी नहीं कह सकते। जैन धर्म अनादि है उसके ये प्रमाण नय निक्षेप आदि सब अनादि हैं और इसीलिये मूर्ति-पूजा भी अनादि है।

सृष्टिकी अनादिता

संसार में जितने मूर्त्त वा अमूर्त्त पदार्थ हैं उनकी रचना विशेष को सृष्टि कहते हैं। इस संसार में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये छह तत्त्व हैं। वास्तव में विचार पूर्वक देखा जाय तो ये सब तत्त्व अनादि और अनिधन हैं। क्योंकि जितने पदार्थ इस

समय दिखाई देते हैं वा अनुमान से सिद्ध होते हैं वे सब किसी न किसी पदार्थ से बदल कर बने हैं। जैसे एक मनुष्यका जीव इस मनुष्य शरीर को छोडकर देव हो जाता है और देव का शरीर छोडकर मनुष्य वा पशुका शरीर धारण कर लेता है। परंतु जीव वही रहता है। जीव कभी भी नया उत्पन्न नहीं होता और न हो सकता है। इसी प्रकार एक मकान ईंट चूना से वनता है परंतु ईंट मिट्टी से वनती है, चूना कंकड से बनता है, कंकड मिट्टी से बनते हैं और मिट्टी कारण कलाप मिलने पर पत्ते लकडी कपडा गोबर आदि अनेक पदार्थों से बन जाती है। विज्ञान से भी यही वात सिद्ध होती है कि प्रत्येक पदार्थ किसी न किसी पदार्थ से बदलकर वनता है। इससे यह वात सुतरां सिद्ध हो जाती है कि यह सृष्टि किसी न किसी रूपमें सदा से चली आई है और किसी न किसी रूपमें सदा वनी रहेगी। इसलिये न इसका कोई कर्त्ता है और न कोई हर्त्ता है। इस प्रकार यह सृष्टि अनादि और अनिधन स्वयं सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार इस सृष्टि का अनादि अनिधनपना विज्ञान द्वारा सिद्ध होने पर भी कुछ दर्शनकार इस सृष्टिका कर्त्ता किसी ईश्वर को मानते हैं। परंतु उन्हें स्वस्थ चित्त होकर एकान्त स्थान में बैठकर विचार करना चाहिये कि यह संसारी सशरीर मनुष्य अपनी संतान उत्पन्न करता है, मकान बनाता है और अनेक नये नये पदार्थ उत्पन्न करता है। उन सबका कर्त्ता यह संशरीर मनुष्य है। बिजली, गैस, वायुयान, रेलगाडी, एंजिन मोटर आदि सबका

कर्त्ता मनुष्य है। खेती वाड़ी सड़क बाग बगीचा बर्तन वस्त्र आदि सब मनुष्य ही बनाता है। इसलिये इस सबका कर्ता मनुष्य है। पशु पक्षी भी संतान उत्पन्न करते हैं, घोंसला बनाते या अन्य अनेक कार्य करते हैं, इसलिये उन सब कार्यों के कर्त्ता वे भी हैं। इस प्रकार इस सब सृष्टि का कर्ता सशरीर आत्मा है।

अब इसमें दो प्रश्न रह जाते हैं-एक तो यह कि इस सशरीर आत्मा में ऐसी कौनसी शक्ति है जिससे यह समस्त पदार्थों को बनाता है। तथा दूसरा प्रश्न यह कि नदी पर्वत आदि बहुत से ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें किसी मनुष्य वा पशु पक्षी ने नहीं बनाया है। कम से कम ऐसे पदार्थों का कर्त्ता तो ईश्वर को अवश्य मानना पड़ेगा। परन्तु इसका उत्तर यह है कि इस जीव में यद्यपि अनन्त गुण हैं तथापि किसी भी कार्य के करने में ज्ञान और हलन चलन क्रिया वा गमन करने की शक्ति ये दो ही गुण मुख्यतया काम आते हैं। इसमें भी हलन चलन क्रिया व गमन करने की शक्ति मुख्य कारण है। हलन चलन क्रिया होने से ही यह जीव किसी भी कार्य के करने में समर्थ होता है। ज्ञान तो केवल उस कार्य को व्यवस्थित रूप से बनाने में वा व्यवस्थित समय और व्यवस्थित क्षेत्र में बनाने में सहायता देता है। यदि इस जीव में ज्ञान न होतो कोई भी पदार्थ व्यवस्थित रूप से नहीं बन सकता। उसको व्यवस्थित रूप से बनाना ज्ञान का कार्य है। परन्तु वह कार्य बनता है हलन चलन क्रिया से। यदि इस जीव में हलन चलन क्रिया वा गमन करने की शक्ति न मानी जाय तो यह किसी

क्षेत्र वा किसी समय में किसी कार्य को नहीं कर सकता । जैसे सिद्ध परमेष्ठी पूर्ण ज्ञानयुक्त होने पर भी हलन चलन क्रिया के न करने से कोई काम नहीं कर सकते। इससे यह बात अवश्य मान लेनी पडती है कि प्रत्येक कार्य को उत्पन्न करने वाली हलन चलन क्रिया है। यह हलन चलन क्रिया सशरीर जीव में है । इसलिये ऊपर लिखे अनुसार सशरीर जीव ही कर्मों का कर्त्ता सिद्ध होता है। इस प्रकार पहले प्रश्न का उत्तर सरलता से आ जाता है ।

अब दूसरे प्रश्न का उत्तर सुनिये । पहले प्रश्न के उत्तरमें यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जिस पदार्थ में हलन चलन क्रिया होगी वही पदार्थ नवीन पदार्थ को उत्पन्न कर सकेगा। जैसे सशरीर जीवमें हलन चलन क्रिया है, इसलिये वह सशरीर जीव अनेक कार्योंका कर्ता होता है। ठीक इसी प्रकार वह हलन चलन क्रिया पुद्गल तत्त्व में भी है। जैन शास्त्रों में गमन करने की शक्ति जीव और पुद्गल दोनों में मानी है। इसलिये जिस प्रकार सशरीर जीव हलन चलन क्रिया की शक्ति रखने के कारण अनेक कार्यों का कर्त्ता है उसी प्रकार पुद्गल भी हलन चलन क्रिया की शक्ति रखने के कारण अनेक कार्यों का कर्त्ता होता है। सशरीर जीव और पुद्गल के कर्त्तव्य में अंतर केवल इतना ही रहता है कि सशरीर जीव में ज्ञान की शक्ति अधिक होने से वह व्यवस्थित रूप से कार्यों को करता है। परन्तु पुद्गल में ज्ञान शक्ति नहीं है, इसलिये पुद्गल जिस किसी भी कार्य को विना जीवकी सहायता से करता है

यह कार्य व्यवस्थित रूप से नहीं होता। नदी पर्वत आदि पदार्थ पुद्गल तत्त्वके द्वारा ही उत्पन्न हुए हैं इसलिये वे व्यवस्थित नहीं हैं।

प्रत्येक कार्य के करने में कर्ता के सिवाय अन्य अनेक कारण कलापों की भी आवश्यकता होती है—जैसे घटके बनाने में कुम्हार कर्त्ता है परंतु चाक मिट्टी, पानी, डोरा, डंडा आदि कारणों के मिलने पर ही कुम्हार घटको बना सकता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार सर्दी गर्मी वायु जल मिट्टी आदि पुद्गलों से ही नदी पर्वत आदि पदार्थ बनते हैं। यह बात पहले बता चुके हैं कि समस्त पुद्गलों में गमन करने की शक्ति है इसलिये सभी पुद्गल पदार्थों में कर्तृत्व है तथा परस्पर एक दूसरे को साधकत्व भी है। देखो गर्मी अधिक पडने से पानी उडकर भाफ रूह में बदल जाता है, भाफ के बादल बन जाते हैं बादलों में भी अधिक सर्दी पडने से ओला बन जाते हैं तथा कहीं कहीं पर बडे पत्थर के समान ओला बन जाते हैं। अनेक प्रकार की खानों में वहां की मि ी ही कारण कलाप मिलने से सोने की खाने में सोना बन जाती है, चांदी की खानि में चांदी बन जाती है, लोहे की खानि में लोहा बन जाती है, पत्थर की खानि में पत्थर बन जाती है और तांबे की खानि में तांबा बन जाती है। जहां जैसे कारण कलाप होते हैं वहां वैसा ही पदार्थ बन जाता है। बिजली में चलने की शक्ति है, इसलिये वह ट्रांवे चलाती है; रेलगाडी चालती है और शब्दों को लाखों कोस दूर ले जाती है। परन्तु बिजली में ज्ञान न होने के कारण रेलगाडी ट्रांवे आदि कहां रुकनी चाहिये यह काम वह नहीं

करती। इस कामको चलाने वाला करता है। वायु में चलने की शक्ति है इसलिये वह भी बादलों को ले ही जाती है। ज्ञान न होने से वह आवश्यकताके स्थान पर नहीं ले जासकती परन्तु कार्य करती है। इसी प्रकार कर्म-वर्गणा आदि सूक्ष्म पुद्गल भी बहुत काम करते हैं। एक शरीर छूट जाने पर दूसरा शरीर धारण करने के लिये कार्माण वा कर्मों का समूह इस जीव को ले जाता है। पुण्य पाप रूप कर्म अपना सुख दुख रूप फल देते हैं। नाम कर्म शरीर तथा शरीर के समस्त अंग उपांग आदि अवयवों को बनाता है। तिर्यंचगति-नाम कर्म सर्दी गर्मी पानी मिट्टी आदि कारण कलापों के मिलने पर घास वा अनेक प्रकार की वनस्पतियों को उत्पन्न करता है, तथा अनेक प्रकार के कीडे मकोडों को उत्पन्न करता है। पानी का उद्गम और पानी का वेग नदी को बना देता है तथा ऊपर को उठने वाली कठोर मिट्टी पर्वत को बना लेती है। कहांतक कहा जाय, इस संसार में जितने भी पदार्थ हैं वे सब स्वयं तो अनादि और अनिधन हैं परन्तु उनकी अवस्था-विशेषों को सशरीर जीव और सक्रिय पुद्गल बदला करते हैं। यही क्रम अनादि काल से चला आरहा है और अनंत काल तक चलता रहेगा।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि भारी पुद्गल वजनदार होने से चल नहीं सकते परन्तु जैसे मनो तेल घी कपूर आदि पदार्थ जल जाने पर उड जाते हैं, पत्थरका बहुभाग भी फूंक लेने पर उडजाता है उसी प्रकार रूपांतर होने पर हलके हो जाने के कारण समस्त पुद्गल हलन चलन क्रिया कर सकते हैं। अनेक

पर्वतों पर अनेक पानी के सोते हैं। उनका पानी पत्थरों से वना है। तथा पत्थरों से वना वह पानी नीचे पड़कर नदी के रूप में आ जाता है तथा उसका बहुतसा पानी भाफ रूपमें होकर उड जाता है। इस प्रकार रूपांतर होने से सब पुद्गलों में हलन चलन क्रिया हो जाती है।

इस प्रकार यह बात सहज रीति से समझमें आ जाती है कि यह सृष्टि अनादि अनिधन है और इसके रूपांतर का-एक अवस्था से दूसरी अवस्था उत्पन्न करने का यदि कोई कर्ता है तो वह पुद्गल ही है वा पुद्गल-विशिष्ट जीव है। शुद्ध जीव वा शरीररहित जीव किसी कार्य को नहीं कर सकता। इसीलिये एक अमूर्त ईश्वर किसी कार्य को नहीं कर सकता। इसलिये यह सृष्टि अनादि है।

अनेकांत वा स्याद्वाद

यहां पर अंत शब्द का अर्थ धर्म है। संसार में जितने पदार्थ हैं उन सबमें अनेक धर्म रहते हैं। कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसमें अनेक धर्म न रहते हों। उन अनेक धर्मों को कहना अनेकान्त है तथा यही स्याद्वाद का अर्थ है। स्यात् शब्द का अर्थ कथंचित् है और वाद शब्द का अर्थ कथन है। अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को कथंचित् शब्द से ही कहना पड़ता है। इस प्रकार अनेकांत और स्याद्वाद का एक ही अर्थ है।

घी खाने से शरीर में चिकनाई आती है, संतोष होता है और शरीर की वृद्धि तथा पुष्टता होती है। इस प्रकार घी में

चिकनाई लाना, संतुष्ट करना वृद्धि करना तीन गुण हैं। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में अनेक गुण वा धर्म रहते हैं।

किसी स्थान पर एक घडा रक्खा हुआ है। वह घडा दूर रक्खे हुए अन्य घडों से दूर है, समीप रक्खे हुए घडों से समीप है, पुराने घडों की अपेक्षा नया है, नये घडों की अपेक्षा पुराना है, देवदत्त के घड़े से अच्छा है, यज्ञदत्त के घड़े से अच्छा नहीं है, किसी घड़े से छोटा है, किसी से बड़ा है, किसी से सुडौल है, किसी से सुडौल नहीं है। इस प्रकार उसमें अनेक धर्म हैं और ये धर्म अन्य पदार्थों के संबंध से होते हैं। तथा प्रत्येक पदार्थ के साथ अन्य अनेक पदार्थों का संबंध रहता है। उन सबके निमित्त से प्रत्येक पदार्थ में अनेक धर्म हो जाते हैं।

आज एक घडा बना। वह घडा मिट्टी से बना है जलसे नहीं, इस स्थान पर बना है अन्य स्थान पर नहीं, आज बना है अतीत अनागत काल में नहीं, तथा बडा बना है छोटा नहीं। इस प्रकार घड़े के उत्पाद में अनेक भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार घडे के विनाश में भी अनेक भेद हो जाते हैं।

इन सब धर्मों को दो प्रकार से कह सकते हैं-एक क्रमसे और दूसरे एक साथ। इसी विषय को आगे दिखलाते हैं। किसी भी पदार्थ के स्वरूप को कथंचित् रूपसे कथन करना स्याद्वाद है। प्रत्येक पदार्थ में तीन धर्म रहते हैं-अस्तित्व, नास्तित्व और अवक्त-व्यत्व। जैसे घट है इसमें घट विशेष्य है और 'है' यह विशेषण

है। यह नियम है कि विशेषण विशेष्य में ही रहता है, विशेष्य को छोडकर विशेषण अन्यत्र नहीं रह सकता। इसलिये कहना चाहिये कि 'है' यह विशेषण घटरूप विशेष्य ही में रहता है। इसी प्रकार 'घट नहीं है' यहां पर भी घट विशेष्य है और 'नहीं है' यह विशेषण है। यह 'नहीं है' यह विशेषण भी घट में ही रहता है। घट को छोडकर अन्यत्र नहीं रह सकता। 'नहीं है' यह अभाव रूप विशेषण है और अभाव अन्य पदार्थ स्वरूप पडता है। जैसे घट नहीं है तो क्या है, पट है वा मठ है। इसलिये घटका अभाव पट वा मठ रूप पडता है। यदि घटमें पटका वा मठका अभाव न माना जाय तो उस पट वा मठको भी घट कह सकते हैं। परन्तु ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसलिये यह सहज सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक पदार्थ में उससे भिन्न अन्य समस्त पदार्थों का अभाव रहता है। इसीलिये घटमें घटत्व धर्म का अस्तित्व है और पटत्व वा मठत्व धर्म का नास्तित्व है। इस प्रकार एक ही घटमें अस्तित्व और नास्तित्व अथवा 'है' और 'नहीं है' दोनों ही विशेषण रहते हैं।

अब यहां पर विचार करना चाहिये कि जिस प्रकार घट में 'है' यह विशेषण रहता है उसी प्रकार 'नहीं है' यह भी विशेषण रहता है। अर्थात् उस घट में 'है' और 'नहीं है' ये दोनों ही विशेषण रहते हैं. वे दोनों ही विशेषण घट को छोड नहीं सकते। इस प्रकार यह सहज रीति से सिद्ध हो जाता है कि घट में 'अस्तित्व' और नास्तित्व अथवा 'है' और 'नहीं है' ये दोनों ही धर्म रहते

हैं। अस्तित्व धर्म की अपेक्षा से 'घटोस्ति' अथवा 'घट है' यह कहा जाता है और नास्तित्व धर्म की अपेक्षा से 'घटो नास्ति' अथवा 'घट नहीं है' यह कहा जाता है। जिस प्रकार घटमें ये दोनों धर्म रहते हैं उसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में दोनों धर्म रहते हैं। उन दोनों धर्मों का व्यवहार मुख्यता और गौणता से होता है। जब 'घट है' ऐसा कहते हैं तब अस्तित्व धर्म की मुख्यता और नास्तित्व धर्म की गौणता समझनी चाहिये। इसका अभिप्राय यह है कि 'घट है' ऐसा कहते समय उसमें नास्तित्व धर्म कहीं अन्यत्र नहीं चला जाता, किंतु गौण रूपसे वह उसी में रहता है। इसी प्रकार जब 'घट नहीं है' ऐसा कहते हैं तब नास्तित्व धर्म मुख्य माना जाता है और अस्तित्व धर्म उस समय गौण माना जाता है। उस समय अस्तित्व धर्म भी अन्यत्र नहीं चला जाता किंतु गौण रूप से उसी में रहता है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्म सदा विद्यमान रहते हैं।

यदि इन दोनों धर्मों में से किसी एक का भी अभाव माना जाय तो फिर किसी भी पदार्थ का स्वरूप नहीं बन सकता है। यदि केवल अस्तित्व धर्म को ही मान लिया जाय और नास्तित्व धर्म का सर्वथा अभाव मान लिया जाय तब 'घट है' यही वाक्य माना जायगा 'घट नहीं है' यह वाक्य नहीं माना जा सकता। ऐसी अवस्थामें पट वा मठको भी घट कह सकते हैं तथा संसार के अन्य समस्त पदार्थों को घट ही कह सकते हैं; क्योंकि घट में नास्तित्व धर्म तो है नहीं। इसलिये पट, मठ वा अन्य समस्त

घट है, वह भी घट है ऐसा ही कहना पड़ेगा। इस प्रकार घट में नास्तित्व का अभाव मानने से समस्त पदार्थ घट रूप ही मानने पड़ेंगे। परन्तु ऐसा होना असंभव है इसलिये नास्तित्व धर्म का न मानना भी असंभव है।

पदार्थों को 'यह घट नहीं है' ऐसा नहीं कह सकते तब यह भी

इसी प्रकार यदि केवल नास्तित्व धर्मको ही मानलें, अस्तित्व धर्मको न मानें तो 'घट नहीं है' यही वाक्य माना जायगा। ऐसी अवस्था में 'घट नहीं है' इस ज्ञानको उत्पन्न करने वाला भी नहीं बन सकता। क्योंकि केवल नास्तित्व धर्मको मानने वाले किसी भी पदार्थ में अस्तित्व धर्म नहीं मान सकते। फिर भला 'घट नहीं है' इस वाक्य का भी अस्तित्व कैसे माना जा सकता है? तथा 'घट नहीं है' इस वाक्य के अस्तित्व को माने विना न अपने पक्ष की सिद्धि हो सकती है और न दूसरे का निराकरण हो सकता है। इसलिये केवल नास्तित्व धर्म को मानना भी किसी प्रकार नहीं बन सकता।

इसलिये मानना चाहिये प्रत्येक पदार्थ कथंचित् सत् रूप है, कथंचित् असत् रूप है, कथंचित् उभय रूप है और कथंचित् अवक्तव्य है। अपने अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से प्रत्येक पदार्थ सत् रूप है, पर पदार्थों के द्रव्य क्षेत्र काल भावकी की अपेक्षा से असत् रूप है। घट में रहने वाले द्रव्य क्षेत्र कालभाव की अपेक्षा से घट सत् रूप है और पट में रहने वाले द्रव्य क्षेत्र

काल भाव की अपेक्षा से पट सत् रूप है। पट में रहने वाले द्रव्य क्षेत्रकाल भाव की अपेक्षा से पट सत् रूप है और घट असत् रूप है। तथा घट में रहने वाले द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा से घट सत् रूप है पट असत् रूप है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में सत् और असत् दोनों धर्म माननने पडते हैं, विना दोनों धर्मों के माने किसी भी पदार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती।

अब प्रश्न यह है कि हम उन दोनों धर्मों को एक साथ कह सकते हैं वा नहीं। यदि हम घटः अस्ति घटः नास्ति अर्थात् घट है घट नहीं है ऐसा कहते हैं तो भी उससे दोनों धर्म समान रीति से कहे हुए सिद्ध नहीं होते। क्योंकि जिस धर्मका नाम पहले कहा जाता है वह मुख्य माना जाता है और दूसरा गौण माना जाता है। 'घट है, नहीं है' इस वाक्य में 'घट है' यह मुख्य है और 'घट नहीं है' 'यह गौण है। इसी प्रकार 'घट नहीं है' है। 'घटो नास्ति अस्ति च' इस वाक्य में भी नहीं है। वा नास्तित्व धर्म की मुख्यता है और अस्तित्व धर्म की गौणता है। यदि दोनों को मुख्यता मानी जाय तो भी वह क्रम से होगी। एक साथ नहीं हो सकती। क्योंकि दोनों धर्म एक साथ कभी नहीं कहे जा सकते। इसलिये एक साथ उन दोनों की मुख्यता भी नहीं हो सकती। इस प्रकार विचार करने से यह बात सिद्ध हो जाती है कि प्रत्येक पदार्थ में रहने वाले अस्तित्व और नास्तित्व धर्म एक साथ नहीं कहे जा सकते, दोनों धर्मों की मुख्यता से दोनों धर्मों को एक साथ कहना असंभव है। इसलिये दोनों धर्मों की मुख्यता

की अपेक्षा से वह पदार्थ अवक्तव्य है। इस प्रकार उन दोनों के धर्मों के साथ साथ एक अवक्तव्यत्व धर्म भी उसमें रहता है परन्तु वह भी सर्वथा नहीं है, कथंचित् है; क्योंकि अवक्तव्यत्व के साथ साथ अस्तित्व और नास्तित्व धर्म भी रहते ही हैं। यदि उसमें अवक्तव्यत्व धर्म सर्वथा मान लिया जाय तो फिर वह किसी भी शब्द से नहीं कहा जा सकता। यदि वह अवक्तव्य शब्द से ही कहा जाय तो भी उसके साथ अस्तित्व धर्म तो लगा ही रहेगा। क्योंकि यह 'अवक्तव्य है' अथवा अवक्तव्योस्ति ऐसा कहा जायगा। ऐसी अवस्था में उसके साथ 'अस्ति' वा 'है' लगा ही रहेगा और इस प्रकार वह अवक्तव्यत्व धर्म सर्वथा नहीं हो सकता किन्तु कथंचित् ही मानना पड़ेगा।

इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व नास्तित्व और अवक्तव्यत्व ये तीन धर्म अवश्य रहते हैं।

जिस प्रकार हम सोंठ मिरच पीपल इन तीनों दवाइयों को सात पुड़ियों में भिन्न भिन्न रूपसे बांध सकते हैं। एक में अकेली सोंठ, दूसरी में अकेली मिरच, तीसरी में अकेली पीपल, चौथी में सोंठ और मिरच मिली हुई, पांचवी में सोंठ और पीपल मिली हुई, छटी में मिरच और पीपल मिली हुई और सातवीं में सोंठ मिरच पीपल तीनों मिली हुई। इसी प्रकार इन अस्तित्व नास्तित्व और अवक्तव्यत्व धर्मों के भी सात भेद हो जाते हैं। तथा वे सातों ही धर्म प्रत्येक पदार्थ में विशेषण रूप से रहते हैं और इस प्रकार ये सातों धर्म प्रत्येक पदार्थ में अभिन्न रूप से रहते हैं।

यथा (स्यादस्त्येव घटः) यह घट कथंचित् अस्तिरूप ही है। (स्यान्नास्त्येव घटः) यह घट कथंचित् नास्ति रूप ही है। (स्यादस्ति नास्त्येव घटः) यह घट कथंचित् अस्ति नास्ति रूप ही है। (स्यादवक्तव्य एव घटः) यह घट कथंचित् अवक्तव्य ही है। (स्यादस्ति चावक्तव्य एव घटः) यह घट कथंचित् अस्तिरूप अवक्तव्य ही है। (स्यान्नास्ति चावक्तव्य एव घटः) यह घट कथंचित् नास्तिरूप अवक्तव्य ही है। (स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्य एव घटः) यह घट कथंचित् अस्तिरूप नास्तिरूप अवक्तव्य ही है। इस प्रकार ये सात भंग वा भेद होते हैं।

पहले धर्म में अस्तित्व धर्म की मुख्यता है शेष छह भंगों की गौणता है। शेष छह भंग गौण होते हुए भी उसी पदार्थ में रहते हैं। दूसरे भंग में नास्तित्व धर्म की मुख्यता है शेष धर्मों की गौणता है। तीसरे भंग में अनुक्रम से अस्तित्व और नास्तित्व धर्म की मुख्यता है शेष धर्मों की गौणता है। चौथे भंग में अवक्तव्य धर्म की मुख्यता है, शेष धर्मों की गौणता है। पांचवें भंग में अस्तित्व धर्म की विशेष मुख्यता रखते हुए अवक्तव्य धर्म की मुख्यता है शेष धर्मों की गौणता है। छटे भंग में नास्तित्व धर्म की विशेष मुख्यता रखते हुए अवक्तव्यधर्म की मुख्यता है शेष धर्मों की गौणता है। तथा सातवें भंग में तरतम रूप से अस्तित्व नास्तित्व अवक्तव्यत्व धर्म की मुख्यता है, शेषधर्मों की गौणता है।

जिस भंगमें जिस धर्म की मुख्यता है उसको छोड़कर शेष धर्मों की सत्ता उसी पदार्थ में सिद्ध करने के लिये स्यात् शब्द लगाया जाता है। यह तिङन्त प्रतिरूपक निपात है और इसके अनेक अर्थ होने पर भी इस प्रकरण में अनेकांत की विवक्षा होने से अनेकांत अर्थ ही लिया जाता है। इसलिये स्यादस्त्येव घटः अर्थात् कथंचित् घट है ही ऐसा कहा जाता है। इसका भी स्पष्ट अर्थ यह है 'कि घट कथंचित् है' है ही परंतु कथंचित् नहीं भी है। नास्तित्व धर्म उसका कहीं गया नहीं है। इसी बातको सिद्ध करने के लिये स्यात् शब्द लगाया जाता है।

एव शब्द का अर्थ निश्चयात्मक है। इससे यह सिद्ध होता है कि घट में रहने वाला अस्तित्व निश्चयात्मक है अथवा घटमें रहने वाला नास्तित्व वा अवक्तव्यत्व निश्चयात्मक है। उस पदार्थ में उस धर्म के निश्चयात्मक रहने से फिर कोई किसी प्रकार का संशय नहीं रहता तथा संशय के न रहने से परस्पर विरोध का अभाव हो जाता है।

प्रत्येक पदार्थ में अनन्त धर्म रहते हैं तथा प्रत्येक धर्म का अभिप्राय भिन्न भिन्न होता है। जो धर्म कहा जाता है जिसकी मुख्यता होती है वह अंगी माना जाता है और शेषधर्म जो गौण माने जाते हैं वे सब अंग कहलाते हैं। जिस प्रकार अंगी में सब अंग रहते हैं उसी प्रकार उस मुख्य धर्म में शेष गौणरूप सब धर्म रहते हैं। जिस प्रकर अस्तित्व नास्तित्व धर्म की मुख्यता गौणता बतलाई है उसी प्रकार एक अनेक आदि अन्य अनेक धर्मों को भी

समझलेना चाहिये। स्यादेकः, कथंचित् एक ही है। स्यादनेकः, कथंचित् अनेक ही है। स्यादेकानेकश्च, कथंचित् एक अनेक रूप ही है। स्यादवक्तव्यः, कथंचित् अवक्तव्य ही है। स्यादेकश्चावक्तव्यः, कथंचित् एक और अवक्तव्य ही है। स्यादनेकश्चावक्तव्यश्च, कथंचित् अनेक और अवक्तव्य ही है। स्यादेकश्चानेकश्चावक्तव्यश्च, कथंचित् एक अनेक और अवक्तव्य रूप ही है। इसी प्रकार द्वैत अद्वैत मूर्तत्व अमूर्तत्व चेतनत्व अचेतनत्व द्रव्यत्व अद्रव्यत्व पर्यायत्व अपर्यायत्व वस्तुत्व अवस्तुत्व आदि सब धर्म समझ लेने चाहिये। जो लोग केवल अद्वैत मानते हैं उनके मतमें कर्त्ता कर्म आदि भिन्न भिन्न कारक नहीं हो सकते। न अनेक प्रकार की चलना बैठना सोना आदि क्रियाएं हो सकतीं हैं। इस संसार में शुभ अशुभ दो प्रकार के कर्म होते हैं। पुण्य पाप दो प्रकार के उन कर्मों के फल होते हैं। यह लोक और परलोक दो प्रकार के लोक होते हैं। विद्या अविद्या दो प्रकार की विद्याएं वा ज्ञान अज्ञान दो प्रकार के ज्ञान होते हैं। और बंध मोक्ष भी दो होते हैं। केवल अद्वैत मानने से यह द्वैतपना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। परन्तु इस द्वैतपने को समस्त संसार मानता है, समस्त दर्शनकार मानते हैं। केवल अद्वैत मानने से सबका लोप मानना पडेगा। जो सर्वथा असंभव है। यदि उस अद्वैत को किसी हेतु से सिद्ध किया जायगा तो भी हेतु और साध्य दो मानने पडेंगे। यदि विना किसी हेतु के अद्वैत माना जायगा तो वह केवल कहने मात्र के लिये ही है, उससे सिद्ध कुछ नहीं हो

सकता । इसके सिवाय यह भी समझ लेना चाहिये कि द्वैतका अभाव ही तो अद्वैत है । वह द्वैत के होने से ही सिद्ध हो सकता है । विना द्वैतके अद्वैत की सिद्धि कभी नहीं हो सकती । इसलिये कथंचित् द्वैत और कथंचित् अद्वैत मानना ही पड़ेगा । इस प्रकार माने विना किसी एक प्रकार की सिद्धि कभी नहीं हो सकती । इसी प्रकार एक अनेक मूर्त अमूर्त आदि समस्त धर्मों में सातों भंग लगा लेने चाहिये ।

इस अनेकांत वा स्याद्वाद के मानने में कुछ दर्शनकार यह कहते हैं कि एक ही पदार्थ में अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्म मानने में विरोध आता है । यदि उसमें अस्तित्व धर्म है तो उसमें नास्तित्व नहीं रहना चाहिये क्योंकि अस्तित्व के साथ नास्तित्व का विरोध है । यदि उसमें नास्तित्व धर्म है तो उसके साथ अस्तित्व का विरोध है । इसलिये एक पदार्थ में एक ही धर्म रह सकता है दो नहीं । इस प्रकार एक ही पदार्थ में परस्पर विरोधी दोनों धर्मों को न मानने वाले दर्शनकारों को नीचे लिखे अनुसार विरोधका लक्षण समझ लेना चाहिये ।

विरोध तीन प्रकार का होता है:-वध्यघातक रूपसे, सहानवस्था रूपसे और प्रतिबंध्य-प्रतिबंधक रूपसे । वध्य और घातक रूप विरोध सर्प और नकुल का रहता है अथवा अग्नि और जलका रहता है । परन्तु यह वध्य घातक रूप विरोध एक ही समय में दोनों के संयोग होने पर होता है । विना संयोग के कभी विरोध नहीं हो सकता । अलग रक्खी हुई अग्नि को अलग रक्खा हुआ

जल कभी नहीं बुझा सकता। अथवा अलग बैठे हुए सर्प को अलग रहने वाला नकुल (नौरा) कभी नहीं मार सकता। यदि अलग रहने वाला जल अलग रहने वाली अग्निको बुझा देता है तो फिर इस संसार में कहीं भी अग्नि नहीं रहनी चाहिये। यदि अलग रहने वालन नौरा अलग रहने वाले सर्प को मार सकता है तो संसार में कहीं भी सर्प नहीं रहने चाहिये। परन्तु विना संयोग के वध्य घातक विरोध नहीं होता। संयोग होने पर जो बलवान होता है वह निर्बल को मार लेता है। परन्तु अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्मों में परस्पर विरोध मानने वाले दर्शनकार किसी भी पदार्थ में अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्मों को एक क्षण भी नहीं मानते हैं। जब ऊपर लिखे दोनों धर्म किसी भी पदार्थ में एक क्षण भी नहीं ठहरते हैं फिर उनके विरोध करने की कल्पना भी व्यर्थ है, हो ही नहीं सकती। यदि किसी एक पदार्थ में दोनों की वृत्ति मानली जाती है तो दोनों ही समान बलशाली होने से तथा दोनों में से कोई एक भी निर्बल वा अधिक बलवान न होने से वध्य घातक रूप विरोध नहीं हो सकता। इसी प्रकार सहानवस्था रूप विरोध भी नहीं हो सकता। क्योंकि एक काल में साथ साथ न रहने को सहानवस्था रूप विरोध होता है। जैसे आम के फल में एक कालमें पीलापन और हरापन का विरोध है। हरेपन के अनंतर पीलापन आता है जब पीलापन आजाता है तो हरापन रुक जाता है, परन्तु किसी भी पदार्थ में रहने वाला अस्तित्व और नास्तित्व दोनों धर्म पूर्वोत्तर काल में नहीं रहते। वे

तो दोनों एक साथ रहते हैं। इसलिये इनमें सहानवस्था रूप विरोध भी नहीं हो सकता। यदि अस्तित्व नास्तित्व को पूर्वोत्तर काल में माना जायगा तो जिस समय में अस्तित्व है उस समयमें नास्तित्व नहीं है तो फिर उस पदार्थ का कभी भी अभाव नहीं हो सकता। यदि केवल नास्तित्व ही मान लिया जाय, उस समय में अस्तित्व का अभाव मान लिया जाय तो फिर बंध मोक्ष आदिका व्यवहार भी सब नष्ट हो जावेगा। इसलिये सहानवस्था रूप भी कभी किसी रूपमें नहीं बन सकता।

तीसरा विरोध प्रतिबध्य प्रतिबंधक रूप से होता है। जैसे फलों का गुच्छा जब तक डाली से संबंधित है, लगा हुआ है तब तक वह भारी होने पर भी गिर नहीं सकता; क्योंकि डाली के साथ उसका प्रतिबंध हो रहा है। जब उसका प्रतिबध हट जाता है डाली से हट जाता है वा डाली से संबन्ध छूट जाता है तब वह भारी होने के कारण नीचे गिर जाता है; क्योंकि कोई भी भारी पदार्थ किसी के साथ संयोग सम्बन्ध न होने पर गिरता ही है। परन्तु अस्तित्व धर्म नास्तित्व धर्म का प्रतिबन्धक नहीं है अथवा नास्तित्व धर्म अस्तित्व धर्मका प्रतिबन्धक नहीं है। वे तो दोनों ही प्रत्येक पदार्थ में विवक्षा रूप से रहते हैं। इसलिये यह प्रतिबध्य प्रतिबन्धक रूप विरोध भी किसी प्रकार नहीं बन सकता। इस प्रकार यह सहज सिद्ध हो जाता है कि अस्तित्व नास्तित्व दोनों धर्मों का विरोध किसी भी पदार्थ में सिद्ध नहीं हो सकता। दोनों धर्म प्रत्येक पदार्थ में एक साथ रहते हैं।

इस प्रकार जब प्रत्येक पदार्थ में इन दोनों धर्मों के रहने में कोई विरोध नहीं है तो फिर शेष पांचों धर्मों के रहने में भी कोई विरोध नहीं हो सकता। और इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ में अस्तित्व आदि सातों धर्म विना किसी विरोध के सतत बने रहते हैं। इसी प्रकार इन अस्तित्व नास्तित्व धर्म के समान एकत्व अनेकत्व मूर्तत्व अमूर्तत्व आदि समस्त धर्म समझ लेने चाहिये।

द्रव्य का लक्षण

द्रव्य का लक्षण सत् है। सत् का अर्थ सत्ता है। जो जो द्रव्य हैं उनकी सत्ता अवश्य है, जो द्रव्य नहीं हैं उनकी सत्ता भी नहीं है। तथा जिन जिनकी सत्ता है वे द्रव्य अवश्य हैं। जो सत्ता रूप नहीं हैं अथवा जिनकी सत्ता नहीं है वे कोई द्रव्य नहीं हैं। इसलिये द्रव्य का लक्षण सत् वा सत्ता है।

जिस प्रकार द्रव्यका लक्षण सत् है उसी प्रकार सत् का लक्षण उत्पाद व्यय ध्रौव्ययता है। अर्थात् जिनका उत्पाद हो वा उत्पन्न होते रहते हों जिनका व्यय वा नाश होता रहता हो और जो ध्रुव रूप वा ज्यों के त्यों बने रहते हों उनको सत् कहते हैं। प्रत्येक पदार्थ में प्रत्येक समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीनों अवश्य होते हैं। जैसे एक मिट्टी का घडा फूट जाता है। जिस समय में वह घडा फूटा है, उसी समय में उसके टुकडे हो जाते हैं अर्थात् घडे का नाश और टुकडों का उत्पाद दोनों एक साथ होते हैं तथा उस घडे की मिट्टी जैसी घडे में थी सी ही टुकडों

में बनी हुई है। इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीनों एक साथ बने रहते हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्य प्रत्येक समय में उत्पन्न होता रहता है, प्रत्येक समय में नष्ट होता रहता है और प्रत्येक समय में ज्यों का त्यों बना रहता है। देखो एक वनस्पति प्रतिदिन बढ़ती है अथवा एक बालक प्रतिदिन बढ़ता है। परन्तु वह वनस्पति वा वह बालक प्रतिदिन किसी एक समय पर नहीं बढ़ता। किन्तु प्रत्येक समय में उसका परिवर्तन होता रहता है। प्रत्येक समय में उसकी पहली अवस्था नष्ट होती रहती है। नई अवस्था उत्पन्न होती रहती है और वह वनस्पति वा बालक ज्यों का त्यों बना हुआ है। यदि प्रत्येक समय में उनकी अवस्था का बदलना न माना जायगा तो फिर कभी भी उनकी अवस्था नहीं बदल सकेगी। इसलिये प्रत्येक द्रव्य की अवस्था प्रत्येक समय में बदलती रहती है यह मानना ही पड़ेगा।

अब यहां पर प्रश्न यह होता है जो मकान वस्त्र आदि पदार्थ घटते बढ़ते नहीं हैं उनकी अवस्था का बदलना कैसे माना जायगा? तो इसका उत्तर यह है कि मकान वस्त्र आदि पदार्थ भी जीर्ण शीर्ण होते हैं। यद्यपि वे वर्षों में जीर्ण शीर्ण होते हैं परन्तु होते अवश्य हैं। परन्तु उनका जीर्णपना भी किसी विशेष समय पर नहीं होता। किन्तु प्रत्येक समय में उनका अवस्था बदलते बदलते वर्षों में जीर्ण शीर्ण हो जाते हैं। यदि पहले समय में उनकी अवस्था नहीं बदलेगी, तो फिर दूसरे समय में भी नहीं

बदलेगी, यदि दूसरे समय में भी नहीं बदलेगी तो तीसरे समय में भी नहीं बदलेगी और इस प्रकार वर्षों वा हजारों लाखों वर्षों में भी नहीं बदलेगी। परन्तु ऐसा होता नहीं है। जीर्ण शीर्ण अवस्था सब की होती है। किसी की शीघ्र होती है किसी की देर से होती है परन्तु होती सबकी है और वह प्रत्येक समय में होते होते ही होती है। इससे सिद्ध होता है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीनों प्रत्येक द्रव्य मे प्रत्येक समय में रहते हैं। अथवा यों कहना चाहिये कि प्रत्येक द्रव्य इन तीनों मय है।

किसी एक दुकान पर बिकने के लिये सोने का घड़ा रक्खा हुआ है। एक ग्राहक उसे मोल लेना चाहता है, दूसरा एक ग्राहक मुकुट बनवाना चाहता था और तीसरा केवल सोना चाहता था। उस घड़े को तोड़ देने पर सोनेका घड़ा लेने वाला कुछ दुखी होता है और विचार करता है कि यदि घडा मिल जाता तो अच्छा था। मुकुट बनवाने वाला घडे को टूटा हुआ देखकर प्रसन्न होता है। क्योंकि वह समझता है कि मुकुट बनवाने के लिये घड़ेका फूट जाना अच्छा है। तथा सोना लेने वाला मध्यस्थ रहता है और समझता है कि मुझे तो सोना लेना है सोना पहले भी था अब भी है। अब विचार करने की बात है कि यदि उस घडे में तीनों न होते तो उन तीनों मनुष्यों के तीन प्रकार के परिणाम क्यों होते। घडे के टुकडे होने पर एक प्रसन्न होता है, एक शोक करता है और एक तदवस्थ वा ज्यों का त्यों बना रहता है। उस घडे में उत्पाद व्यय ध्रौव्य ये तीनों होने से ही मनुष्यों के परिणाम तीन

महा दुखदाई है। इस प्रकार वे नारकी अपने पापों का फल भोगा करते हैं। उनकी आयु बीच में पूर्ण नहीं होती।

इसी पृथ्वी के ऊपरी भाग पर मध्यलोक है। इस मध्यलोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं। सबके मध्य में जंबूद्वीप है। जंबू द्वीप के मध्य में एक लाख योजन ऊंचा मेरु पर्वत है। जो एक हजार योजन पृथ्वी में गढ़ा है। इस मेरु के नीचे का भाग अधो लोक कहलाता है, ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक कहलाता है और मेरु की जितनी ऊँचाई है उतना मध्यलोक कहलाता है।

मध्यलोक की लम्बाई चौड़ाई असंख्यात योजन है और उसमें असंख्यात ही द्वीप समुद्र हैं। सबके मध्य में जंबूद्वीप है वह गोल है और एक लाख योजन चौड़ा है। उसको घेरे हुए प्रत्येक दिशा में दो लाख योजन चौड़ा लवण समुद्र है। उसको घेरे हुए चार लाख योजन चौड़ा धातकीद्वीप है। इस प्रकार दूनी दूनी चौड़ाई को धारण करते हुए असंख्यात द्वीप समुद्र हैं अंतमें स्वयंभूरमण समुद्र है।

इस जंबूद्वीप में पूर्व पश्चिम लंबे छह पर्वत पड़े हैं जो जंबूद्वीप के दोनों किनारों तक चले गये हैं। जिससे इसमें सात क्षेत्र बन जाते हैं। जो भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत के नाम से कहे जाते हैं। इन्हीं नामों के चौदह क्षेत्र धातकीद्वीप में हैं और चौदह ही आधे पुष्कर द्वीप में हैं। इस प्रकार ढाई द्वीप में पैंतीस क्षेत्र हैं। इन्हीं पैंतीस क्षेत्रों में मनुष्य

रहते हैं शेष असंख्यात द्वीपों में तिर्यंच रहते हैं। इसीलिये मध्य लोक को तिर्यग लोक कहते हैं।

इन पैंतीस क्षेत्रों में पांच भरत पांच ऐरावत हैं। इनमें काल चक्र घूमा करता है। कालका परिवर्तन हुआ करता है। पांच हैमवत और पांच हैरण्यवतों में जघन्य भोग भूमि है। पांच हरि रम्यक क्षेत्रों में मध्यम भोग भूमि है तथा विदेह क्षेत्रों में अपने अपने मेरु पर्वत के समीप देवकुरु उत्तरकुरु दो क्षेत्र हैं। उनमें सदा काल उत्तमभोग भूमि रहती है। शेष विदेह क्षेत्रमें सदा काल कर्मभूमि रहती है. सदाकाल तीर्थंकर और मुनि रहते हैं और सदाकाल चौथे कालके प्रारंभ का सा समय रहता है।

तीसरे द्वीपके मध्य भाग में गोल मानुषोत्तर पर्वत है उससे पुष्कर द्वीप के दो भाग होगये हैं। मनुष्य मानुषोत्तर पर्वत के आगे नहीं जा सकते।

धातकीद्वीप और आधे पुष्कर द्वीप के मध्य में उत्तर दक्षिण लंबे दो इक्ष्वाकार पर्वत पडे हुए हैं। जिससे उनके दो दो भाग हो गये है। एक पूर्व भाग और दूसरा पश्चिम भाग। इन दोनों भागों में एक एक मेरु पर्वत हैं। इस प्रकार पांच मेरु पर्वत हैं। तथा पांच पांच ही भरत ऐरावत देवकुरु उत्तर कुरु आदि क्षेत्र हैं। यह सब रचना अनादि कालीन है इसमें कभी किसी प्रकार भी परि- वर्तन नहीं होता।

इस जंबूद्वीप के भरत क्षेत्र की उत्तर दक्षिण चौडाई पांचसौ छब्बीस योजन तथा एक योजन के उन्नीसवें भाग में से छह भाग

है। जो जंबूद्वीप का एक सौ नब्बे वां भाग है। इससे दूनी पर्वत की और उससे दूनी क्षेत्र की। इस प्रकार विदेह क्षेत्र तक दूनी दूनी चौडाई है। फिर आगे आधी आधी है। इस प्रकार भरत ऐरावत की समान चौडाई है।

भरत क्षेत्र की सीमा पर जो हिमवत पर्वत है उससे महागंगा और महासिंधु दो नदियां निकलकर भरत क्षेत्र में पडती हुई लवण समुद्र में गिरती हैं जहां वे दोनों नदियां समुद्र में मिलती हैं वहां लवण समुद्रका पानी आकर इस भरत क्षेत्र में भरगया है, जो आज पांच महासागरों के नाम से पुकारा जाता है। तथा मध्य में अनेक द्वीप से बन गये हैं जो एशिया अमेरिका आदि कहलाते हैं इस प्रकार आजकल जितनी पृथ्वी जानने में आई है वह सब इसी भरत क्षेत्र में है।

जिस प्रकार भरत क्षेत्र में दो नदियां हैं उसी प्रकार सातों क्षेत्रों में दो दो नदियां हैं। जो छह पर्वतों में रहने वाले छह सरोवरों से निकलती हैं। पहले और अंत के सरोवर से तीन तीन नदियां निकलती है और शेष सरोवरों से दो दो नदियां निकलती हैं। इस प्रकार सातों क्षेत्रों में चौदह नदियां हैं।

ऊपरके कथन से यह बात अच्छी तरह समझ में आजाती है कि पृथ्वी इतनी बडी है कि इसमें एक एक सूर्य चन्द्र से काम नहीं चल सकता। केवल जंबूद्वीप में ही दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं। कुछ दिन पहले जापान के किसी विज्ञानवेत्ता ने भी यह बात प्रकट

की थी। जब भरत और ऐरावत में दिन रहता है तब विदेहों में रात रहती है। इस हिसाब से समस्त भरत क्षेत्र में एक साथ ही सूर्य दिखाई देना चाहिये और अमेरिका एशिया में जो रात दिन का अंतर है वह नहीं होना चाहिये। परन्तु भरत क्षेत्र के अंतर्गत आर्य क्षेत्र के मध्य की भूमि बहुत अधिक ऊंची नीची होगई है। जिससे एकओरका सूर्य दूसरी ओर दिखाई नहीं देता। वह ऊंचाई की आड में आ जाता है, और इसलिये उधर जाने वाले चन्द्रमा की किरणें वहां पर पडती हैं। ऐसा होने से एक ही भरत क्षेत्र में रात दिन का अंतर पड जाता है। इस आर्य क्षेत्र के मध्य भाग के ऊंचे होने से पृथ्वी गोल जान पडती है उस पर चारों ओर उप समुद्रका पानी फैला हुआ है, और बीच में द्वीप पडगये हैं। इस-लिये चाहे जिधर से जाने में भी जहाज नियत स्थान पर पहुंच जाते हैं। सूर्य चन्द्रमा दोनों ही लगभग जंबूद्वीप के किनारे किनारे मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए घूमते हैं, और छह छह महीने तक उत्तरायण दक्षिणायन होते रहते हैं। इस आर्यक्षेत्रकी ऊँचाई में भी कोई कोई मीलों लंबे चौडे स्थान बहुत नीचे होगये हैं और वे इतने नीचे होगये हैं कि जब सूर्य उत्तरायण होता है तभी उन पर प्रकाश पड सकता है तथा वे स्थान ऐसे हैं कि जहां पर दोनों सूर्यों का प्रकाश पड सकता है और इसलिये उन दोनों स्थानों में दो चार महीने सतत सूर्यका प्रकाश रहता है। तथा दक्षिणायण के समय दो चार महीने सतत अंधकार रहता है।

इन्हीं असंख्यात द्वीप समुद्रों में व्यंतरदेव रहते हैं। तथा इस भरत क्षेत्र में सातसौ नब्बे योजन की ऊंचाई पर और ग्रह नक्षत्र सूर्य चन्द्रमा आदि हैं वे सब ज्योतिषी देवों के विमान हैं। इनमें ज्योतिषीदेव रहते हैं। मेरु पर्वत के ऊपर ऊर्ध्व लोक है इसमें सोलह स्वर्ग हैं, उनके ऊपर नव ग्रैवेयक हैं, उनके ऊपर नव अनुदिश हैं और उनके ऊपर पांच अनुत्तर हैं। सबसे ऊपर मोक्ष स्थान है।

इन असंख्यात द्वीप समुद्रों में असंख्यात ही सूर्य चन्द्रमा हैं तथा इनसे भी बहुत अधिक ग्रह नक्षत्र तारे हैं। ढाई द्वीपके सूर्य चन्द्रमा आदि सब घूमते रहते हैं और आगे के सूर्य चन्द्रमा आदि सब स्थिर हैं।

इस प्रकार यह लोक आकाश के मध्यभाग में वायु के आधार पर स्थित है। इस लोकाकाश के चारों ओर बीस बीस हजार योजन मोटी तीन प्रकार की वायु है घनोदधि वात घनवात और तनुवात उसका नाम है। तीनों की चौड़ाई साठ हजार योजन है। जिस प्रकार यहां पर थोड़ी सी तनुवात नामकी वायु के आधार पर बादलों में असंख्यात मन पानी सधा रहता है उसी प्रकार यह लोकाकाश भी बहुत घनी साठ हजार योजन मोटी वायु के आधार पर स्थिर है। यह वायु लोकाकाश के चारों ओर है इसलिये यह लोकाकाश रंचमात्र भी इधर उधर नहीं हिल सकता। इस प्रकार यह लोकाकाश अनादि कालसे चला आ रहा है

और अनंतकाल तक इसी प्रकार बना रहेगा। यह न किसी ने बनाया है और न कोई इसे नाश कर सकता है। अनादि और अनिधन है।

कालचक्र

यह कालचक्र अनंतकाल से घूमता चला आ रहा है और अनंत काल तक घूमता रहेगा। असंख्यात वर्षों का एक व्यवहार-पल्य होता है। असंख्यात पल्यों का एक सागर होता है। ऐसे बीस कोडाकोडी सागरों का एक कल्प काल होता है। इसमें छह काल उलटते पलटते रहते हैं। छहों कालों के नाम ये हैं।

सुषमासुषमा—यह चार कोडाकोडी सागर का होता है, इसमें उत्तम भोग भूमि का समय रहता है। मनुष्यों की आयु तीन पल्यकी, और शरीर की ऊंचाई छह हजार धनुष की होती है। इनको खाने पीने पहरने की सब सामग्री कल्प वृक्षों से प्राप्त होती है। कल्पवृक्ष पार्थिव हैं और उनमें समस्त सामग्री देने की शक्ति होती है। यह अवसर्पिणी कालका पहला समय कहलाता है। जिसमें आयु काय शक्ति आदि घटती जाय उसको अवसर्पिणी काल कहते हैं और जिसमें आयु काल आदि बढता जाय उसको उत्सर्पिणी काल कहते हैं। उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी और अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी इस प्रकार दोनों काल बराबर चक्र लगाया करते हैं।

सुषमा—अवसर्पिणी का दूसरा काल सुषमा है यह तीन कोड़ा कोड़ी सागर का होता है। इसमें मनुष्यों की आयु दो पल्य, शरीर की ऊंचाई चार हजार धनुष होती है। यह मध्यम भोग भूमि कहलाती है। इसमें दो दिन बाद आंवले बराबर आहार लेते हैं।

सुषमा दुःषमा—तीसरा काल सुषमा-दुःषमा है। यह दो कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इसमें मनुष्यों की आयु एक पल्य, शरीर की ऊंचाई दो हजार धनुष होती है। यह जघन्य भोग भूमि है। इसमें मनुष्य एक दिन बाद आंवले के बराबर आहार लेते हैं।

यहां से आगे कर्मभूमि का प्रारंभ होता है। चौथा पांचवां छठा ये तीनों काल कर्मभूमि के हैं। चौथे कालका नाम दुःषमा सुषमा है। यह ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ा कोड़ी सागर का है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की आयु एक करोड़ पूर्व की होती है। शरीर की ऊंचाई पांचसौ धनुष और आहार प्रतिदिन होता है। इस कालमें प्रारंभ से ही कल्पवृक्ष नष्ट हो जाते हैं और खेती व्यापार मुनीमगिरी सेना। सेवा आदि के द्वारा जीविका चलती है। इसीलिये इन कालोंको कर्मभूमि कहते हैं।

इसी चौथे कालमें चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ बलभद्र और नौ प्रतिनारायण इस प्रकार तिरेसठ महापुरुष होते हैं। ये सबजीव जन्म जन्मांतर से पुण्य उपार्जन करते हुए तीर्थंकर आदि के उत्तम पद प्राप्त करते हैं। इनके

सिवाय चौवीस कामदेव, नौ नारद, ग्यारह रुद्र वा महादेव चौदह कुलकर तथा तीर्थंकरके माता पिता भी उत्तम पुरुष कहे जाते हैं।

इस अवसर्पिणी के चौथेकाल में ऋषभदेव, अजितनाथ, शंभवनाथ, अभिनन्दन नाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ, सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ, पुष्पदन्त, शीतलनाथ, श्रेयांसनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ, अनंतनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, मल्लिनाथ मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी इस प्रकार चौवीस तीर्थंकर हुए हैं। भरत, सगर, मघवा, सनत्कुमार शान्तिनाथ, कुंथुनाथ, अरनाथ, सुभौम, पद्म, हरिषेण, जय और ब्रह्मदत्त, ये बारह चक्रवर्ती हुए हैं। त्रिपृष्ठ, द्विपृष्ठ, स्वयंभू पुरुषोत्तम, पुरुषसिंह, पुंडरीक, दत्त, लक्ष्मण, कृष्ण ये नौ नारायण हुए हैं। अचल, विजयभद्र, सुप्रभ, सुदर्शन, आनंद, नंदन, रामचन्द्र और वलभद्र ये नौ वलभद्र हुए हैं। अश्वग्रीव, तारक, मेरक, मधु, निःशुंभ, वली, प्रहलाद, रावण जरासंध ये नौ प्रतिनारायण हुए हैं। भीम, महाभीम, रुद्र, महारुद्र, काल, महाकाल, दुर्मुख, नरकमुख, अधोमुख ये नौ नारद हुए हैं। भीम, वली, जितशत्रु, रुद्र, विश्वानल, सुप्रतिष्ठ, अतल, पुंडरीक, अजितधर, जितनमि, पीठ, सात्यकी, ये ग्यारह रुद्र हुए हैं। बाहुबली, अमिततेज, श्रीधर, दशभद्र, प्रसेनजित, चन्द्रवर्ण, अग्निमुक्ति, सनत्कुमार, वत्सराज, कनकप्रभ, मेघवर्ण, शान्तिनाथ, कुंथुनाथ. अरनाथ, विजयराज, श्रीचन्द्र, राजानल, हनुमान, वलराजा, वसुदेव, प्रद्युम्न कुमार, नागकुमार, श्रीपाल, जंबूस्वामी ये चौवीस कामदेव हुए हैं। प्रति

श्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमलवाहन, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित, नाभि राय ये चौदह कुलकर हुए हैं।

अवसर्पिणी कालके पांचवें कालका नाम दुःपमा है। यह इकईस हजार वर्ष का है। इसके प्रारम्भ में मनुष्यों की आयु एक सौ वीस वर्ष, शरीर की ऊंचाई सात हाथ है। दिन में दो बार भोजन करते हैं। छठे कालका नाम दुःपमा दुःपमा है। यह भी इकईस हजार वर्ष का होता है। इसके प्रारंभ में मनुष्यों की आयु वीस वर्ष और शरीर की ऊंचाई एक हाथ की होती है।

इस छठे कालके अंत में खंड प्रलय होतो है। जो भरत और ऐरावत क्षेत्र के अंतर्गत आर्य क्षेत्र में होती है। उस समय अग्नि पानी आदिकी प्रबल वर्षा होती है। उस आपत्ति से डरकर कितने ही जीव अकृत्रिम पर्वतों की गुफाओं में चले जाते हैं तथा प्रत्येक जाति के वहत्तर जोडा जीवों को देव उठाकर कंदराओं में रख देते हैं। बाकी जीव सब मर जाते हैं। प्रलय शांत होने पर फिर वे सब जीव निकलकर चारों ओर बस जाते हैं और उनकी संतान से फिर आबादी बढ जाती है। प्रलयकाल के बाद ही उत्सर्पिणी काल का प्रारंभ होता है और उसमें दुःपमा दुःपमा काल, दुःपमा काल दुःपमा सुपमा काल, आता है। स तीसरे दुःपमा सुपमा कालमें फिर तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महापुरुष होते हैं। इसके बाद सुपमा दुःपमा, सुपमा और सुपमा, सुपमा काल आता है। जो क्रम से जघन्य भोग भूमि, मध्यम भोग भूमि और उत्तम भोग भूमि का

काल कहलाता है। इस प्रकार दश कोडाकोडी सागर की अवसर्पिणी और दश कोडाकोडी सागर की उत्सर्पिणी होती है। सुषमा सुषमा कालके बाद फिर अवसर्पिणी काल का सुषमा सुषमा काल आता है। इस प्रकार यह काल चक्र सदा घूमता रहता है।

जाति व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था दोनों अनादि हैं।

यह संसार अनादि है। इसमें परिभ्रमण करने वाले जीव भी अनादि हैं और उस परिभ्रमण के कारणभूत कर्म बंधन भी बीज वृक्ष के समान अनादि हैं। उन कर्मों में एक नामकर्म है और उसके अन्तर्भेदों में एक जाति नामकर्म है जिसके अनेक भेद हैं। आचार्य प्रवर श्री सोमदेवने लिखा है।

जातयोऽनादयः सर्वास्तत्क्रियाऽपि तथाविधा।

अर्थात्—जातियां सब अनादि हैं और उनकी क्रिया भी अनादि काल से ज्यों की त्यों चली आ रही हैं।

एक प्रकार की वस्तुओं का नाम जाति है और वह जाति भेद मनुष्यों में पशुओं में पक्षियों में देवों में नारकियों में तथा जड पदार्थों में भी पाया जाता है। जिनके आचार विचार स्वभाव समान हों उन्हें एक जाति के समझना चाहिये। यह व्यवस्था अनादि-काल से सर्वत्र चली आरही है। यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि जहां जहां कर्म भूमि हैं और उनमें जो विवाह संबंध होते हैं वे सब अपनी ही जातिमें होते हैं विवाह सबंध दूसरी

जातिमें नहीं हैं। जो कोई दूसरी जातिमें विवाह संबंध करता है वह घरेजा के समान माना जाता है। हां धर्म प्रत्येक आत्माका स्वभाव है उसको प्रत्येक जातिका मनुष्य धारण कर सकता है अपनी जाति व्यवस्था के अनुसार उस धर्म की क्रियाओं का पालन कर सकता है।

वर्ण व्यवस्था

जिस प्रकार जातिव्यवस्था अनादि है उसी प्रकार वर्ण-व्यवस्था भी अनादि है। विदेह क्षेत्रों की कर्म भूमियों में अनादि-काल से जातिव्यवस्था और वर्णव्यवस्था अक्षुण्ण रूप से चली आ रही है और अनंतकाल तक बराबर अक्षुण्ण रूप से चलती रहेगी। इसका कारण यह है कि विदेह क्षेत्रों में कभी भी काल परिवर्तन नहीं होता। वहां जहां पर जैसी भोगभूमि है वहां पर सदाकाल वैसी ही भोगभूमि रहती है और जहां पर कर्मभूमि है वहां पर सतत कर्मभूमि ही रहती है। काल परिवर्तन केवल भरत और ऐरावत क्षेत्रों में ही होता है। हैमवत क्षेत्र, हरिक्षेत्र, विदेह क्षेत्र, रम्यक् क्षेत्र और हैरण्यवत क्षेत्रों में काल परिवर्तन नहीं होता।

भरत और ऐरावत क्षेत्रों में जो काल परिवर्तन होता है वह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप से होता है। जिसमें आयु काय आदि वृद्धि को प्राप्त होता रहे उसको उत्सर्पिणी कहते हैं तथा जिसमें आयु काय घटता रहे उसको अवसर्पिणी कहते हैं।

अवसर्पिणी कालके सुषमा सुषमा, सुषमा, सुषमा दुःषमा, दुःषमा सुषमा, दुःषमा, और दुःपमा दुःपमा ये छह भेद हैं। सुषमा सुषमा कालमें उत्तम भोग भूमि के समान व्यवस्था होती है। सुषमा कालमें मध्यम भोग भूमि के समान व्यवस्था होती है। सुषमा दुःपमा में जघन्य भोगभूमि के समान व्यवस्था रहती है। दुःषमा सुषमा कालमें विदेह क्षेत्रों के समान कर्म भूमि की व्यवस्था रहती है। दुःपमा और दुःषमा दुःषमा काल में भी कर्मभूमि की व्यवस्था रहती है।

भोगभूमियों में विवाह संबंध और व्यापार करने की आवश्यकता नहीं होती। इसलिये वहां पर जाति-व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था व्यवहार रूप से चालू नहीं रहती। जब तीसरे काल के अनन्तर कर्म भूमि का समय आता है तब कुलकर उत्पन्न होते हैं वे कुलकर सर्वमान्य होते हैं और उनको प्रायः अवधि ज्ञान होता है। वे कुलकर ही अपने अवधि ज्ञान से जानकर जाति व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था तथा कर्मभूमि की समस्त रचना का उपदेश देकर व्यवस्थित रूपसे कर्म भूमि की रचना करते हैं।

यहां पर इतना और समझ लेना चाहिये कि जिस प्रकार अवसर्पिणी के छह भेद बतलाये हैं उसी प्रकार उत्सर्पिणी के भी उसके प्रति कूल छह भेद हैं। अवसर्पिणी के अंतिम दुःषमा दुःषमा काल के अनंतर उत्सर्पिणी का दुःषमा दुःषमा काल आता है उसके अनन्तर दुःषमा और फिर दुःषमा सुषमा काल आता है।

इन तीनों में कर्मभूमि रहती है। दुःषमा सुषमा कालके प्रारंभ कुलकर होते हैं वे मोक्ष मार्ग की व्यवस्था करते हैं। तीर्थंकर चक्रवर्ती नारायण प्रति नारायण बलदेव आदि शलाका पुरुष इस काल में होते हैं। यथावत मोक्षमार्ग चलता है। इसके अनंत अनुक्रम से सुषमा दुःषमा, सुषमा और सुषमा सुषमा काल आते हैं इन तीनों काल में ऊपर लिखे अनुसार जघन्य मध्यम और उत्तम भोग भूमि की रचना रहती है। इसके अनंतर फिर अवसर्पिणी काल की उत्तम मध्यम जघन्य भोगभूमि की रचना होकर दुःषमा सुषमा काल आता है इसमें ऊपर लिखे अनुसार कुलकर तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि महा पुरुष उत्पन्न होते हैं।

इनमें से सुषमा सुषमा काल चार कोड़ा कोडी सागर का है, सुषमा काल तीन कोडा कोडी सागर का है सुषमा दुःषमा दो कोडा कोडी सागर का है दुःषमा सुषमा ब्यालीस हजार वर्ष कम एक कोडा कोडी सागर का है दुःषमा इक्कईस हजार वर्ष का और दुःषमा दुःषमा इक्कईस हजार वर्ष का है। इस प्रकार दश कोडा कोडी सागर का अवसर्पिणी काल है और इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल भी दश कोडा कोडी सागर का है।

अब यहां पर इतना समझना अत्यन्त आवश्यक है कि उत्सर्पिणी काल के तीसरे दुःषमा सुषमा कालकी कर्मभूमि में जो वर्ण व्यवस्था तथा जाति-व्यवस्था थी उन्हीं सब जातियों और उन्हीं सब वर्णों की संतान दर संतान रूपसे सुषमा दुःषमा नामकी जघन्य भोगभमि में मनुष्य उत्पन्न हुए थे, तथा जघन्य भोगभमि के

मनुष्य सन्तान दर सन्तान रूप से मध्यम भोगभूमि में उत्पन्न हुए। इसी प्रकार मध्यम भोगभूमि के मनुष्यों की सन्तान उत्तम भोगभूमि में, उनकी सन्तान अवसर्पिणी काल को उत्तम भोगभूमि में, उनकी सन्तान मध्यम भोगभूमि में, उनकी सन्तान जघन्य भोगभूमि में और उनकी सन्तान अवसर्पिणी काल की चतुर्थ कर्मभूमि में उत्पन्न हुई थी।

पहले यहां बताया जा चुका है कि अवसर्पिणी काल के चतुर्थ काल के प्रारम्भ में तेजस्वी महापुरुष कुलकर होते हैं। उन्हें अवधिज्ञान होता है और उस अवधिज्ञान के द्वारा विदेह क्षेत्र के समान जातिव्यवस्था वर्णव्यवस्था आदि कर्मभूमि की रचना लोगों को बतलाते हैं। आपने अवधिज्ञान के द्वारा वे कुलकर प्रत्येक मनुष्य की उत्सर्पिणी काल की कर्मभूमि में रहने वाली जाति और वर्ण को स्पष्ट रीति से जान लेते हैं और फिर उस मनुष्य की वही जाति और वही वर्ण बतलाकर सन्तान दर सन्तान रूप से चली आरही वे ही जातियां और वे ही वर्ण उन समस्त लोगों में स्थापन कर देते हैं। इस प्रकार कर्मभूमि के प्रारम्भ से कर्मभूमि के साथ साथ जाति-व्यवस्था और वर्ण-व्यवस्था बराबर चलती रहती है। इस प्रकार सन्तान दर सन्तान रूप से जिस प्रकार मनुष्य जाति अनादि है उसी प्रकार उनकी अन्तर्जातियां भी सबकी अनादि हैं।

यह बात दूसरी है कि समय प्रवाह से कोई निमित्त कारण पाकर उनके नाम बदल दिये जाते हैं। जिस प्रकार अग्रवाल जाति के लोग अपने को राजा अग्र की संतान बतलाते हैं परन्तु

राजा अब भी तो किसी जाति में ही उत्पन्न हुए थे। वे प्रभा
शाली थे, इसलिये उन्होंने अपनी जाति के लोगों को अपने
से अग्रवाल कहकर पुकारा और इस प्रकार पहली जाति
लोप कर उस जातिका नाम बदलकर अग्रवाल नाम रख दि
इस प्रकार आगम और लौकिक दोनों प्रणालियों के अनुस
समस्त जातियां अनादि हैं और वर्ण-व्यवस्था भी अनादि है
इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है।

जैन धर्म की अनादिता

पिछले लेख से यह बतला चुके हैं कि भरत और ऐरावत
क्षेत्रों में काल परिवर्तन होता है। इन दोनों क्षेत्रों को छोड़कर
अन्यत्र कहीं भी काल-परिवर्तन नहीं होता। जहां काल-परिवर्तन
नहीं होता वहां पर अनादि काल से एकसा काल बना रहता है
और वह अनादिकाल से लेकर अनन्तानन्त काल तक सदा
समान रूप से वर्तता रहता है। वहां के जीवों की आयु, काय,
क्रियाएँ आदि सब सदा काल एकसी ही रहती हैं, उनमें कभी
किसी प्रकार का अन्तर नहीं होता। भरत ऐरावत क्षेत्रों में जो
काल-परिवर्तन होता है, वह उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप से
होता रहता है। अवसर्पिणी के अनन्तर उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी
के अनन्तर अवसर्पिणी फिर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी इस प्रकार
सततरूप से काल परिवर्तन होता रहता है। तथा यह परिवर्तन
अनादि काल से लेकर अनन्तानन्त काल तक बना रहता है। इससे
यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि जिस प्रकार यह संसार अनादि है

उसी प्रकार उसकी गति विशेष प्रक्रिया भी अनादि है। तथा उसके साथ २ समस्त वस्तुओं का स्वभाव जीवों का आत्मधर्म रूप व अहिंसारूप स्वभाव भी अनादि है। अहिंसा रूप स्वभाव ही जैन धर्म है, इसलिये वह भी अनादि है।

इसके सिवाय यह बात भी समझ लेना चाहिए कि विदेह क्षेत्र की कर्मभूमियों में सतत तीर्थंकर चक्रवर्त्ती आदि महा पुरुष उत्पन्न होते रहते हैं। वहां पर इस समय भी बीस तीर्थंकर समवसरण सहित विद्यमान हैं। तथा दो तीन कल्याण के धारक और भी अनेक तीर्थङ्कर होते रहते हैं। यह प्रवाह अनादि काल से चला आ रहा है। भरत ऐरावत क्षेत्रों में काल परिवर्तन होने से चौबीस तीर्थङ्कर अवसर्पिणी काल में होते हैं और चौबीस ही उत्सर्पिणी काल में होते हैं। जिस प्रकार संसार अनादि है उसी प्रकार अपने २ काल में होनेवाला तीर्थङ्करों का प्रवाह भी अनादि है। वे समस्त तीर्थंकर अनादि काल से चले आये वस्तुस्वभाव व आत्म-स्वभाव रूप धर्म का व अहिंसा धर्म का प्रचार करते रहते हैं। कोई भी तीर्थङ्कर अनादि काल से चले आये उस आत्म-धर्म व अहिंसा धर्म में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं करते हैं। इसका भी कारण यह है कि वस्तुस्वभाव में व आत्म-स्वभाव में कभी भी परिवर्तन नहीं होता है। इसलिये जैन धर्म में भी कभी परिवर्तन नहीं हो सकता है। इस प्रकार भी यह जैन धर्म अनादि है।

इसके सिवाय एक बात यह है कि वेद सब से प्राचीन माने जाते हैं। वेदांती लोग तो यहां तक कहते हैं कि ये वेद स्वयं ईश्वर के बनाये हुए हैं। जिस ईश्वर ने सृष्टि बनाई उसीने ये वेद बनाये। पर । वेदों में भी वर्तमान काल के हमारे तीर्थङ्करों का नाम आत या अनेक स्थलों पर अनेक तीर्थङ्करों के नाम आते हैं। इससे यह भी स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि हमारे वर्तमान तीर्थङ्कर भी इन वेदों से पहले के हैं फिर पूर्व उत्सर्पिणी काल में होने वाले तीर्थङ्करों की तो बात ही क्या है इससे भी सिद्ध होता है कि जिस प्रकार यह संसार अनादि इसी प्रकार यह जैन धर्म भी अनादि है।

श्रावकों की दिनचर्या

मुनियों का समस्त समय ध्यान तपश्चरण में ही जाता है। जब मुनि चर्या के लिये गमन करते हैं अथवा तीर्थयात्रा आदि के लिये दूर देशों के लिये गमन करते हैं उस समय भी वे समितियों का पालन करते हैं। सामायिक के समय सामायिक करते हैं, चर्या के समय समितियों का पालन करते हुए चर्या करते हैं और शेष समय में स्वाध्याय करते हैं। रात्रि में मौन धारण करते हैं। इस प्रकार उनका समस्त समय ध्यान तपश्चरण वा स्वाध्याय आदि में ही व्यतीत होता है। इसलिये उनके दिन-चर्या की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु गृहस्थों को लौकिक और पारलौकिक दोनों ही कार्य करने पड़ते हैं। अतएव किस

समय पारलौकिक कार्य करना चाहिये, यही दिन चर्या कहने का अभिप्राय है।

अब प्रातः काल से श्रावकों की दिन चर्या बतलाते हैं। यह दिन चर्या धर्मामृत श्रावकाचार से लिखी जा रही है।

जिस समय की देवता ब्राह्मी वा सरस्वती है उसको ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। यह प्रातः काल के दो घडी पहले से प्रातः काल तक रहता है। श्रावकों को ब्राह्म मुहूर्त में उठकर णमोकार मन्त्र का पाठ पढना चाहिये। फिर मैं कौन हूं, मेरा धर्म क्या है और मेरे पास कौन कौन व्रत हैं आदि चिंतवन करना चाहिये। तदनन्तर अनादि कालसे परिभ्रमण करते हुए जीवको यह भगवान अरहंत देव का धर्म और श्रावक व्रत बड़ी कठिनता से प्राप्त हुए हैं अतएव प्रमाद रहित होकर इनका पालन करना चाहिये। इस प्रकार प्रतिज्ञा कर शौच आदि से निवृत होना चाहिये। फिर भगवान का ध्यान कर दिन भर के लिये विशेष नियम धारण करने चाहिये।

तदनन्तर समता धारण कर भगवान की आकृति का चिंतवन करते हुए उस श्रावक को जिनालय में जाना चाहिये। अपनी विभूति के अनुसार देव शास्त्र गुरु की पूजा की समस्त सामग्री लेकर तथा भगवान अरहंत देवकी ज्ञान रूप ज्योति का चिंतवन करते हुए श्रावक को आगे की चार हाथ भूमि को देखते हुए जिनालय को जाना चाहिये और वहां पर शिखर के ऊपर

फहराती हुई ध्वजा को देख कर परम आनन्द मानना चाहिये। जिनालय में बजते हुए बाजों से, धूप पुष्प आदि की सुगंधि से अपने उत्साह को बढ़ाते हुए श्रावक को निःसही शब्द का उच्चारण करते हुए जिनालय में प्रवेश करना चाहिये। फिर पैर धोकर निःसही शब्द का उच्चारण करते हुए जिनालय के मध्यभाग में जाना चाहिये और फिर भगवान की तीन प्रदक्षिणा देकर तीनबार नमस्कार कर भगवान की स्तुति करनी चाहिये, तथा चिन्तवन करना चाहिये कि जिनालय समवसरण की भूमि है और ये वेदी में विराजमान साक्षात् अरहंत देव हैं तथा ये मुनि श्रावक आदि बारह सभाओं के सभासद हैं। इस प्रकार चिन्तवन कर वहां पर दर्शन पूजन करने वाले भव्य जनों की अनुमोदना करनी चाहिये। तदनन्तर ईर्यापथ शुद्धि प्रतिक्रमण कर अनुक्रम से देव शास्त्र गुरु की पूजा करनी चाहिये *। फिर आचार्य महाराज के समीप जाकर अपना त्याग या नियम निवेदन करना चाहिये। तदनन्तर मुनियों को नमोस्तु, ब्रह्मचारियों से वंदना, साधर्मियों से इच्छाकार, आर्यिकाओं से वंदना और श्रावकों से जुहार कहना चाहिये। मुनिराज बदले में श्रावकों को धर्मवृद्धि कहकर आशीर्वाद देते हैं, अन्य लोगों को 'धर्म लाभ हो' कह कर आशीर्वाद देते हैं, ब्रह्मचारी पुण्य-वृद्धि अथवा दर्शनविशुद्धि कहते हैं। श्रावक परस्पर इच्छाकार करते हैं, तथा लौकिक व्यवहार में जुहार कहना

* सबसे पहले प्रत्येक श्रावक को पूजा अपने घर के चैत्यालय में करनी चाहिये और फिर जिनालय में जाकर ऊपर लिखे अनुसार पूजा करनी चाहिये।

चाहिये। तदनन्तर विधिपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिये और करुणा धारण कर दुःखी जीवों का दुःख दूर करना चाहिये। यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिनालय में न तो हँसना चाहिये, न शृंगार की चेष्टा करना चाहिये, चित्त को कलुषित करनेवाली कथाएं, काम क्रोधादिक को कथाएं, देशकथा, राजकथा, स्त्री-कथा भोजनकथा आदि विकथाएं नहीं करनी चहिये, कलह नहीं करनी चाहिये, नींद नहीं लेनी चाहिये, थूंकना नहीं चाहिये, और चारों प्रकार के आहार में से किसी प्रकार का आहार नहीं करना चाहिये।

इस प्रकार प्रातः काल की क्रिया का निरूपण किया। अब आगे द्रव्य कमाने की विधि बतलाते हैं।

प्रभात की यह सब क्रिया कर चुकने पर श्रावक को द्रव्य कमाने के योग्य स्थान दूकान आदि पर जाकर अपने द्रव्य उपार्जन करने, रक्षा करने और बढाने में नियुक्त किये हुए मुनीम गुमास्ते वा अन्य काम करने वालों की देख भाल करनी चाहिये। यदि ऐसी सामग्री न हो और स्वयं सब कुछ करना पडे तो अपने धारण किये हुए जिन धर्म में किसी प्रकार का व्याघात न हो इस प्रकार से द्रव्योपार्जन करने के लिये स्वयं व्यवसाय करना चाहिये। राजाओं को न्याय पूर्वक प्रजाका पालन करना चाहिये, राजकर्मचारियों को राजा प्रजा की हानि न करते हुए काम करना चाहिये और व्यापारियों को कमती बढती नाप तोल को छोडकर तथा खर कर्मों को छोडकर जीविका करनी चाहिये।

यदि किसी में हानि लाभ हो तो हर्ष विषाद कुछ नहीं करना चाहिये, क्योंकि हानि लाभ होना भाग्य के आधीन है। कर्त्तव्य अपने अधीन है। तदनन्तर मुनिव्रत धारण करने का मेरा कब समय आवेगा इस प्रकार चितवन कर तथा जो कुछ हुआ है उसीमें सन्तोष धारण कर भोजन करने के लिये घर जाना चाहिये। भोजन ऐसे करने चाहिये जिससे सम्यक्त्व और व्रतों में किसी प्रकार का दोष न आवे तथा शरीर का स्वास्थ्य न बिगडे। यदि कोई कुटुंबी वा साधर्मी जन अपने विवाह आदि में निमंत्रण दे तो उनके घर भी भोजन करना चाहिये, परन्तु रात्रि में बना अन्न नहीं खाना चाहिये और हीन पुरुषों के साथ ऐसा व्यवहार भी नहीं रखना चाहिये।

श्रावकों को उद्यानभोजन नहीं करना चाहिये, पहलवान वा पशुओं का युद्ध न कराना चाहिये न देखना चाहिये, पुष्प इकट्ठे नहीं करने चाहिये, शृंगार की भावना से जल क्रीडा नहीं करनी चाहिये, होली खेलना, परिहास करना, द्रव्य भाव हिंसा के साधन कौमुदी महोत्सव देखना, नाटक देखना, चित्रपट देखना, रास क्रीडा देखना, नाच गान आदि सब का त्याग करदेना चाहिये।

तदनन्तर स्नानकर शुद्ध वस्त्र पहन कर भगवान की पूजा करना चाहिये। उस समय विधि पूर्वक पंचामृताभिषेक करना चाहिये। इसके सिवाय गुरु महाराज के उपदेश से सिद्धचक्र का पूजन करना चाहिये, श्रुत पूजन करना चाहिये वा आचार्यों के

चरण कमलों का पूजन करना चाहिये। तदनन्तर उत्तम मध्यम जघन्य पात्रों को आहार देकर तथा अपने आश्रित नौकर चाकर आदि को खिलापिलाकर स्वयं भोजन करना चाहिये। द्रव्य क्षेत्र काल भाव कर्म सहायक आदि सब ऐसे होने चाहिये जो दोनों लोकों के विरुद्ध न हो तथा किसी पुरुषार्थ का घात करने वाला न हो। तथा कोई रोग न हो इसका भी सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये।

सायंकाल के समय देवपूजन (दीप धूप की आरती कर तथा सामायिक कर समय पर सोजाना चाहिये। रात्रि में जितने दिन बन सके स्त्री सेवनका त्याग कर देना चाहिये तथा निद्रा भंग होने पर बारह भावनाओं का चिंतवन करना चाहिये। संसार से विरक्त होने का, मोह के त्याग करने का और विषय सेवन के त्याग करने का चिंतवन करना चाहिये। स्त्री सेवन के त्याग का चिंतवन विशेष आवश्यक है। इसलिये उसका विशेष चिंतवन करना चाहिये। सामायिक और समता भावों का चिन्तवन करना चाहिये और मुनिधर्म पालन करने की भावना रखते हुए रात्रि व्यतीत करनी चाहिये।

संस्कार

जैन धर्म में संस्कारों को सूचित करने वाली तिरेपन क्रियाएं हैं तथा जैन धर्म में दीक्षित होने के लिये अडतालीस क्रियाएं हैं। इनके सिवाय सात परम स्थान माने हैं। परम स्थानों में पहला

परम स्थान सज्जातित्व नाम का परम स्थान है । जिस की कुल और जाति दोनों शुद्ध हैं उसके सज्जातित्व नाम का पहला परम स्थान होता है । पितृ पक्ष को कुल कहते हैं और मातृ पक्ष को जाति कहते हैं । वंश परम्परा से चली आई मातृ पक्ष की रजो वीर्य की शुद्धि को जाति की शुद्धता कहते हैं तथा वंश परम्परा से चली आई पितृ पक्ष की रजो वीर्य की शुद्धि को कुल शुद्धि कहते हैं । इन दोनों की शुद्धि को साज्जातित्व कहते हैं । सज्जातित्व विशिष्ट पुरुष को ही दान पूजा होम आदि करने का अधिकार होता है और इसीके संस्कार होते हैं ।

तिरेपन क्रियाओं में गृहस्थों के संस्कार करने योग्य नीचे लिखी क्रियाएं हैं ।

आधान प्रीति सुप्रीति धृति मोद जातकर्म नामकरण वहिर्यान निषद्या अन्नप्राशन व्युष्टि केशवाप (चौलकर्म) लिपि संख्यान उप नीति व्रतावतरण और विवाह ।

उपनीति संस्कार का अर्थ यज्ञोपवीत संस्कार है। सज्जातित्व विशिष्ट पुरुष को ही यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार है । यज्ञोपवीत धारण करने वाले पुरुष को ही यज्ञ होम दान पूजा आदि का अधिकार है। अन्तमें मृत्यु संस्कार भी एक संस्कार है । समाधि पूर्वक मरण ही श्रेष्ठ मरण कहलाता है । मृत्यु के अनन्तर निर्जीव शरीर का दाह संस्कार किया जाता है । इनका विशेष वर्णन शास्त्रों में विस्तार पूर्वक लिखा है ।

इनके सिवाय जैन धर्म सूतक पातक भी मानता है। जिस समय स्त्रियां मासिक धर्म से होती हैं उस समय तीन दिन का अस्पृश्य सूतक होता है। इसी प्रकार जन्म का सूतक दस दिन और मरण का तेरह दिन का होता है। इनके सिवाय भी कितनी ही विशेषताएं हैं जिनका विशेष वर्णन शास्त्रों में है।

भू-भ्रमणमीमांसा

कोई कोई लोग इस पृथ्वी को स्थिर नहीं मानते तथा दर्पण के समान सपाट भी नहीं मानते किन्तु गेंद के समान गोल मानते हैं। तथा सूर्य आदि नक्षत्र मण्डल को स्थिर मानते हैं। ऐसा मानने से पूर्व पश्चिम आदि दिशाओं का ठीक प्रतिबोध होता है और नक्षत्रादिकों का ज्ञान भी होता है। इसी प्रकार पृथ्वी को स्थिर न मानने से सूर्य चन्द्रमा आदि का उदय अस्त आदि का भी ठीक ठीक प्रतिबोध होता है। इस प्रकार ये लोग पृथ्वी को गेंद के समान गोल और उस को घूमती हुई मानकर कहते हैं। परन्तु उनका यह कहना सर्वथा विरुद्ध है इसी बात को आगे दिखलाते हैं।

इस पृथ्वी को गेंद के समान गोल मानना और सदा काल ऊपर नीचे की ओर भ्रमण करती हुई मानना किसी प्रकार नहीं बन सकता है क्योंकि उसके भ्रमण करने में कारणभूत कोई हेतु नहीं है। कदाचित् यह कहा जाय कि वायु का स्वभाव भ्रमण करना है और वह ऊपर नीचे को भी भ्रमण करती रहती है।

के नहीं होते। इसलिये ऊपर के अविवाभावों हेतु में कोई व्यभि-चार नहीं है।

कदाचित् यह कहो कि किसी भी कार्य में पुरुष के प्रयत्न का अभाव असिद्ध है अर्थात् समस्त कार्य पुरुष के प्रयत्नों से ही होते हैं सो भी नहीं कह कहते क्योंकि गोल पृथ्वी के भ्रमण करने में महेश्वर ने (महादेव वा ईश्वर ने) कारणमात्र का निराकरण किया है, और इस निराकरण का भी कारण यह बतलाया है कि इस गोल पृथ्वी के भ्रमण करने में किसी पत्थर आदि का संघट्टन संभव नहीं हो सकता। अतएव यह सिद्ध हुआ कि इस गोलपृथ्वी का भ्रमण होना असिद्ध है, यह बात नहीं वन सकती। भावार्थ—इस गोल पृथ्वी का भ्रमण अवश्य होता है। यदि इस गोल पृथ्वी का भ्रमण न माना जायगा तो उस पृथ्वी पर रहने वाले लोगों को सूर्य चन्द्रमा का उदय अस्त तथा भिन्न भिन्न देशों में सूर्य चन्द्रमा की प्रतीति कभी नहीं हो सकती। परन्तु भिन्न भिन्न देशों में सूर्य चन्द्रमा की प्रतीति और उनका उदय अस्त होता ही है इसलिये कहना चाहिये कि इस गोलाकार पृथ्वी का भ्रमण करना प्रमाणसिद्ध है। इस प्रकार कोई वादी मानता है।

अब आगे इसी वादी का उत्तर देते हुए विचार करते हैं।

पृथ्वी के भ्रमण को निषेध करने वाले अनेक शास्त्र उपस्थित हैं। उसीके अनुसार अनेक प्रतिनियत देशों में सूर्य चन्द्रमा की

प्रतीति हो जाती है और इस प्रकार पृथ्वी के भ्रमण को सूचित करने वाले समस्त हेतु विरुद्ध सिद्ध हो जाते हैं । इस प्रकार भू भ्रमण के जितने कारण हैं उनमें अनुमानादिक द्वारा बाधित पक्षता का दोष आता है । तथा पृथ्वी के परिभ्रमण में कोई कारण नहीं है इसलिये भी पृथ्वी का परिभ्रमण नहीं हो सकता है । कदाचित् यह कहो कि कोई ऐसा ही विचित्र अदृष्ट कारण है कि जिससे इस पृथ्वी का परिभ्रमण होता है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि पृथ्वी के परिभ्रमण में वायु का भ्रमण होना कारण नहीं हो सकता। इसका भी कारण यह है कि वायु का भ्रमण कभी भी नियमानुसार नहीं हो सकता। क्योंकि वायु का भ्रमण कभी किसी दिशा में और कभी किसी दिशा में होता रहता है । इसलिये पृथ्वी का परिभ्रमण इच्छानुसार दिशा को ओर कभी नहीं हो सकता ।

कदाचित् यह कहो कि प्राणियों के किसी अदृष्ट (भाग्य) के वशीभूत होकर वायु का भ्रमण किसी नियत दिशा में हो सकता है सो भी युक्ति संगत नहीं है क्योंकि कार्य की असिद्धि होने से उसके कारण की भी असिद्धि मानी जाती है अर्थात् वायु का भ्रमण कभी भी इच्छानुसार नियत दिशा में नहीं होता । इसलिये कारण भूत किसी अदृष्ट की सिद्धि भी नहीं हो सकती ।

संसार में सुख वा दुःख आदि कार्य प्रसिद्ध हैं उनमें किसी प्रकार का विवाद भी नहीं है तथा व्यभिचार दोष को कहने वाला कोई दृष्ट कारण भी नहीं है । इसलिए सुख वा दुःख रूप कार्य में

अनुमान प्रमाण से अदृष्ट कारण की सिद्धि होती है, परन्तु इच्छा-नुसार दिशा की ओर वायु का भ्रमण निर्विवाद सिद्ध नहीं है इसलिये व्यभिचार रूप दृष्ट कारण के न होने पर भी उस सुख वा दुःख रूप कारण के लिये अदृष्ट रूप कारण अनुमान से सिद्ध होता है। कदाचित् यह कहो कि पृथ्वी का परिभ्रमण होता है इसीलिये उसकी कारणभूत नियत दिशा की ओर बहती हुई वायु की भी सिद्धि हो जाती है। सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जिस प्रकार पृथ्वी का भ्रमण असिद्ध है उसी प्रकार उसकी कारण भूत नियत दिशा की ओर भ्रमण करती हुई वायु भी असिद्ध सिद्ध होती है। यद्यपि अनेक दिशाओं में और अनेक देशों में सूर्य चन्द्रमा की प्रतीति भू भ्रमण के कारण भी सिद्ध होती है तथापि उससे पृथ्वी का परिभ्रमण सिद्ध नहीं होता। क्योंकि अनुमित अनुमान से भी अदृष्ट विशेष की सिद्धि नहीं होती। इसलिये हमने ठीक ही कहा है कि ऊपर वा नीचे की ओर पृथ्वी का परि-भ्रमण कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि आप लोगों ने जो पृथ्वी के परिभ्रमण के कारण स्वीकार किये हैं वे कभी भी सिद्ध नहीं हो सकते। जिस प्रकार आप लोगों का भू भ्रमण सिद्ध नहीं हो सकता उसी प्रकार उसके कारण भी कभी सिद्ध नहीं हो सकते।

इसके सिवाय पृथ्वी का परिभ्रमण मानने में कितने ही साक्षात् दिखने वाले दोष प्रगट दिखाई पडते हैं आगे उन्हीं को दिखलाते हैं।

यदि पृथ्वी गोल है और वह भ्रमण करती है तो फिर उसपर जो समुद्र का जल स्थिर रहता है उसका साक्षात् विरोध दिखाई पडता है। जिस प्रकार किसी भ्रमण करते हुए गोले पर रक्खा हुआ गोल पत्थर कभी टिक नहीं सकता उसी प्रकार भ्रमण करती हुई पृथ्वी पर टिके हुए जल में और घूमते हुए पत्थर के गोले पर टिके हुए गोल पत्थर में कोई विशेषता नहीं है। दोनों ही समान हैं। संसार में भी देखा जाता है कि अत्यन्त भ्रमण करते हुए पत्थर के गोले पर पतनशील जलादिक पदार्थ कभी स्थिर नहीं रह सकते, कभी नहीं टिक सकते। यदि भ्रमण करते हुए गोले पर जलादिक ठहर सकते होते तो भ्रमण करती हुई पृथ्वी पर भी समुद्रादिक के ठहरने को सम्भावना हो सकती थी। कदाचित् यह कहो कि धारक वायु के निमित्त से भ्रमण करती हुई पृथ्वी पर भी जलादिक के ठहरने में कोई विरोध नहीं आता है सो भो कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वह धारक वायु दूसरी प्रेरक वायु से (वहनेवाली वायु से) चलायमान क्यों नहीं हो सकती अर्थात् वह धारक वायु भी वहने वाली वायु से टकराकर अवश्य चलने लगेगी। जो सर्वदा चलने वाली वायु और सर्वकाल भूगोल को भ्रमण कराती हुई वायु उस भूगोल पर चारों ओर टिके हुए समुद्रादिक के जल को धारण करने वाली धारक वायु को अवश्य ही विघटन करदेगी अर्थात् उस धारक वायु को भी वह अवश्य चलादेगी। क्योंकि धारक वायु के समान उसकी प्रतिद्वन्द्वी चलने वाली वायु भी है। अतएव भ्रमण करतो हुई पृथ्वो पर जलादिक का

स्थिर रहना विरुद्ध ही है। क्योंकि कोई वायु सर्वथा विशेष रूप से ही रहती है अर्थात् चलती फिरती नहीं यह बात असंभव है। इससे सिद्ध होता है पृथ्वी परिभ्रमण नहीं करती और इसीलिये उसपर जलादिक स्थिर है।

आगे भू भ्रमण वादी जैनियों को स्थिर भूमि के लिये शंका करता है और उसीके कथनानुसार उसका निरसन किया जाता है।

वादी कहता है कि संसार में जितने भारी पदार्थ हैं वे सब सामने की ओर ही गिरते हैं। समुद्रादिक का पानी भी सामने की ओर ही उसी पृथ्वीपर पडता है इसलिये वह स्थिर रहने के समान ही जान पडता है। परन्तु उसका यह कहना पतन दृष्टिसे वाधित ही सिद्ध होता है उसी को आगे स्पष्ट रूप से दिखलाते हैं। गोल पृथ्वी भ्रमण भी करती है और भूगोल भ्रमण के कारण गिरता हुआ समुद्रादिक का जल भी स्थिर के समान जान पडता है। क्योंकि वह सामने की ओर उसी पृथ्वी पर पडता है। संसार में जितने भारी पदार्थ हैं वे सब सामने की ओर ही पडते हैं। प्रतिकूल दिशा में नहीं पडते क्योंकि प्रतिकूल दिशा में भारी पदार्थों का पडना कहीं नहीं देखा जाता। इस प्रकार भू भ्रमण वादी कहता है। परन्तु उसका यह कहना युक्ति संगत नहीं है क्योंकि संसार में जितने भारी पदार्थ हैं वे सब नीचे की ओर ही पडते हैं जिस प्रकार कोई मिट्टी का ढेला या पत्थर का टुकड

ऊपर से गिरता है तो भारी होने के कारण नीचे की ओर ही गिरता है। उसी प्रकार चारों ओर से रोकने वाले या अभिघात करने वाले समस्त पदार्थों का अभाव हो और उस अवस्था में कोई भी भारी पदार्थ अपने स्थान से गिरे तो वह भारी होने के कारण नीचे की ओर ही गिरता है। भ्रमण करती हुई पृथ्वी पर जो समुद्रादिक का पानी पड़ता है वह भी नीचे की ओर ही गिरेगा क्योंकि उसको रोकने वाला अथवा चारों ओर से अभिघात करने वाला कोई विशेष पदार्थ नहीं । पुरुष का किया हुआ कोई यत्न भी ऐसा नहीं है जिससे वह जल नीचे की ओर न गिरकर सामने की ओर उसी पृथ्वी पर गिरे । कदाचित् यह कहो कि किसी मनुष्य के द्वारा फेंकी हुई गेंद सामने की ओर जाती है इसलिये तुम्हारा (जैनियों का) हेतु व्यभिचारी वा सदोष है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि हमने तो यह कहा है कि किसी अभिघात करने वाले पदार्थ के अभाव होने पर भारी पदार्थ नीचे गिरता है। गेंद जो सामने जाती है वह फेंकने वाले के अभिघात से (चोट वा बलसे) सामने जाती है । यदि फेंकने वाले का अभिघात न हो तो वह भी नीचे की ओर ही जायगी। इसलिये हमारा हेतु ठीक है व्यभिचारी नहीं है। कदाचित यह कहो कि हमने जो मिट्टी के ढेले का वा पत्थर के टुकडे का दृष्टांत दिया है वह साध्य साधन दोनों से रहित है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि पत्थर के टुकडे वा मिट्टी के ढेले में साधन भारीपन है सो ढेले में है ही और नीचे की ओर गिरना साध्य है वह भी

ढेले में है ही क्योंकि ढेला भारी होने के कारण नीचे की ओर ही गिरता है। इसी प्रकार मिट्टी के ढेले में वा पत्थर के टुकड़े में साध्य साधन दोनों है। इसलिये हमारा दृष्टांत साध्य साधन रहित नहीं है। इसलिये कहना चाहिये कि जिस प्रकार "यह पृथ्वी ऊपर की ओर भ्रमण करती है वा नीचे की ओर भ्रमण करती है" इस प्रकार कहने वाले किसी भी वादी का कहना सत्य नहीं है उसीप्रकार "यह पृथ्वी भ्रमण करती है" इस प्रकार कहने वाले वादी का कहना भी सत्य नहीं है। इसके सिवाय यह भी समझना चाहिये कि यदि भू भ्रमण को कहने वाला कोई आगम सत्य है तो फिर जो आगम भू भ्रमण को नहीं मानता वह सत्य क्यों नहीं होना चाहिये। क्योंकि भू भ्रमण न मानने से भी बिना किसी भेद के ज्योतिर्ज्ञान की पूर्ण रूप से सिद्धि हो जाती है। यदि दोनों आगमों को सत्य माना जायगा तो फिर दोनों का परस्पर विरोध रहित अर्थ किस प्रकार निकल सकता है। यदि परस्पर विरुद्ध दोनों आगमों को सत्य मान लिया जायगा तो फिर बुद्ध और ईश्वर के समान वे दोनों प्रकार के आगम को कहने वाले आप्त (सर्वज्ञ हितोपदेशी) नहीं हो सकते। अतएव कहना चाहिये कि भू भ्रमण को कहने वाला आगम सत्य नहीं है और इस प्रकार यह पृथ्वी स्थिर है, भ्रमण नहीं करती।

आगे मतांतर दिखलाकर उसका निराकरण करते हैं।

भू भ्रमण वादी कहता है कि जैनियों की मानी हुई पृथ्वियां भी वायु के आधार मानी हैं। तथा वायु कभी स्थिर नहीं रह

सकती क्योंकि वायु सदाकाल चलती रहती है। जैसे यहां की साधारण वायु चलती ही रहती है इसी प्रकार भूमियों को धारण करने वाली वायु भी वहने वाली है। जब भूमियों को धारण करने वाली वायु वहती रहती है तो फिर वे भूमियां भी नीचे की ओर गिरती रहेगी। ऐसा भू भ्रमण वादी कहता है परन्तु उसका यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि संसार में धारक वायु भी देखी जाती है। देखो बादलों में करोड़ों मन वा असंख्यात मन पानी भरा रहता है परन्तु इतने भारी बोझ को धारण करने वाले बादल वायु के आधार पर ही रहते हैं। यदि किसी भारी पदार्थ को धारण करने वाली धारक वायु अनादि हो तो फिर उसमें कोई किसी प्रकार का दोष नहीं आता है और न कोई किसी प्रकार की हानि होती है। यही बात आगे दिखलाते हैं।

भूमियों को धारण करने वाली वायु अनवस्थित नहीं है क्योंकि वह वहने वाली वा चलने फिरने वाली नहीं है। कदाचित् यह कहो कि भूमि को धारण करने वाली वायु चलने वाली नहीं है यह बात सर्वथा असंभव है क्योंकि कोई भी वायु चलने फिरने के स्वभाव से रहित नहीं है परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि वादलों को धारण करने वाली वायु भी दिखाई पडती ही है। कदाचित् यह कहो कि वादलों को धारण करने वाली वायु भी वहती हुई है इसलिये वह सदाकाल धारण नहीं कर सकती। संसार में सदाकाल धारण करने वाली वायु कहीं नहीं दिखाई देती। परन्तु वादी का यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि सदाकाल धारण करने वाली वायु को आप लोग सादि मानते हो या

अनादि। कदाचित् उसे सादि मानते हो तो ठीक है इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यदि अनादि वायु को भी सर्वकाल धारण करने वाली नहीं मानते हो तो फिर आत्मा और आकाश में भी अमूर्तत्त्व और विभुत्व (सर्वत्र रहने वाला) आदि धर्मों का विरोध होगा। क्योंकि आत्मा और आकाश भी अनादि हैं और उनमें रहने वाले अमूर्तत्त्व और विभुत्व धर्म भी अनादि है। यदि अनादि स्थिर वायु भूमि को धारण नहीं कर सकती तो फिर अनादि आत्मा में अनादि अमूर्तत्त्व धर्म भी नहीं रह सकता तथा अनादि आकाश में अनादि व्यापकता भी नहीं रह सकता। कदाचित् यह कहो कि आत्मा में जो अमूर्तत्व धर्म हैं वह आधाराधेय भाव से अनादि काल से रहता है इसी प्रकार आकाश में जो व्यापकता है वह भी आधाराधेय भाव से अनादि काल से रहता है इसलिये इनदोनों पदार्थों में ऊपर लिखे दोनों धर्म सदाकाल विद्यमान रहते हैं। यदि आप लोग इस प्रकार मानते हो तो फिर भूमि को धारण करने वाली स्थिर वायु भी अनादि काल से भूमि को धरण कर रही है इसलिये उसकी सत्ता और स्थिरता सदाकाल विद्यमान रहती है। अतएव कहना चाहिये कि अनादिकालीन स्थिर रहने वाली वायु के आधार पर रहने वाली भूमि कभी नीचे की ओर नहीं गिर सकती क्योंकि उसके गिरने का कोई प्रमाण नहीं है।

इस ऊपर के कथन से यह भी समझ लेना चाहिये कि कदाचित् कोई पुरुष पृथ्वी को ऊपर की जाती हुई मानता हो वा

आठों दिशाओं की ओर गमन करने वाली मानता हो सो भी नहीं बन सकता क्योंकि इसके लिये भी कोई प्रमाण नहीं है।

इस प्रकार भूमि को धारण करने वाली वायु विना किसी बाधा के सिद्ध हो जाती है क्योंकि इसके सदाकाल स्थिर रहने में कोई किसी प्रकार का विरोध नहीं आता।

अब यहां पर कोई दूसरा वादी कहता है कि यह भूमि किसी दूसरी भूमि के आधार है क्योंकि वह भूमि है। जो जो भूमि होती है वह किसी अन्य भूमि के ही आधार पर रहती है जैसे यह प्रसिद्ध भूमि किसी भूमि के आधार पर है। इसी प्रकार वह दूसरी भूमि भी तीसरी भूमि के आधार पर है क्योंकि वह दूसरी भूमि भी भूमि है जो जो भूमि होती है वह किसी न किसी भूमि के ही आधार पर रहती है जैसे यह प्रसिद्ध भमि दूसरी भूमि के आधार है। इसी प्रकार वह तीसरी भूमि भी चौथी भूमि के आधार है क्योंकि वह भी प्रसिद्ध भूमि के समान भूमि है। इसी प्रकार ऊपर की ओर नीचे की ओर शेष दिशाओं की ओर भी यह भूमि एक दूसरे के आधार पर अन्त रहित व्यापक रूप से चली गई है। आगे इसका भी प्रतिवाद करते हैं। यह पृथ्वी नीचे की ओर वा ऊपर की ओर अपर्यन्त नहीं है अर्थात् सर्वत्र व्यापक नहीं है। क्योंकि ऊपर वा नीचे इसके आकार वा संस्थान भिन्न भिन्न हैं जिनके आकार भिन्न भिन्न होते हैं वे पर्वत के समान सीमित रूप से रहते हैं व्यापक रूप से नहीं रहते

यदि यह पृथ्वी सब ओर व्यापक रूपसे रहती है तो फिर उसके आकार की कोई कल्पना नहीं हो सकती । आगे इसी को स्पष्ट रूप से दिखलाते हैं। संसार में जितने पर्वत हैं वे सब किसी न किसी आकार के ही दिखाई पडते हैं क्योंकि वे सीमित हैं जो पदार्थ सीमित नहीं होता अपर्यन्त वा व्यापक होता है वह किसी भी आकार वाला नहीं हो सकता। जैसे आकाश व्यापक है इसीलिये उसका कोई आकार नहीं है। इस प्रकार विपक्ष से वाधित है और इसीलिये पृथ्वी को सीमित सिद्ध करता है।

इसी प्रकार तुमने यह जो कहा है कि यह विवादापन्न पृथ्वी किसी दूसरी पृथ्वी के आधार है क्योंकि वह पृथ्वी है। जो जो पृथ्वी होती है वह किसी न किसी पृथ्वी के आधार रहती है जैसे यह प्रसिद्ध पृथ्वी। सो यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि तुम्हारा यह हेतु सूर्य की पृथ्वी से अनेकान्त दोष से दूषित है अर्थात् सूर्य की पृथ्वी पृथ्वी होने पर भी किसी के आधार नहीं है। इसलिये तुम्हारा पृथ्वी रूप हेतु अनेकान्त दोष से दूषित है। तुमने यह जो कहा था कि जो जो पृथ्वी होती है वह किसी न किसी के आधार पर रहती है यह बात ठीक नहीं है क्योंकि सूर्य की पृथ्वी पृथ्वी तो है परन्तु वह किसी के आधार पर नहीं है। इसलिये मानना चाहिये कि पृथ्वी भी सीमित है। वह व्यापक नहीं है और इसीलिये वह आकारवान है तथा ऊपर नीचे की ओर उसके भिन्न भिन्न आकार हैं और वह अनादि कालीन स्थिर वायु के आधार पर स्थित है। ऐसा बिना किसी बाधा के प्रमाण सिद्ध हो जाता है।

इस पर से यह भी समझ लेना चाहिये कि जो लोग इस पृथ्वी को सर्प के फण के ऊपर वा गायके सींग के ऊपर अथवा कच्छप की पीठ पर मानते हैं सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि इतनी भारी पृथ्वी सिवाय स्थिर और बहुत मोटी वायु के और किसी के आधार पर नहीं रह सकती है। इसलिये कहना चाहिये कि अनन्त आकाश के मध्य भाग में बड़े योजनों से साठ हजार मोटी और स्थिर वायु के आधार पर यह पृथ्वी टिकी हुई है।

इसके सिवाय यह भी समझ लेना चाहिये कि प्रत्यक्ष से जो पृथ्वी का भ्रमण दिखाई नहीं देता क्योंकि सब लोगों को उसके स्थिर होने का ही अनुभव होता है। कदाचित् यह कहो कि सब लोगोंको जो पृथ्वी के स्थिर होने का अनुभव हो रहा है वह उनका भ्रम है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि भ्रम जो होता है वह सब को नहीं होता किसी किसी पुरुष को वा किसी किसी देशवालों को होता है। समस्त देश और समस्त पुरुषों को सदा काल उसके स्थिर होने का ही अनुभव होता है उसके भ्रमण का अनुभव नहीं होता। कदाचित् यह कहो कि अनुमान से पृथ्वी के भ्रमण का निश्चय हो जाता है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि उसका अविना-भावी हेतु कोई नहीं है। कदाचित् यह कहो कि नक्षत्र मण्डल के स्थिर रहने पर तथा पृथ्वी के भ्रमण करने पर ही सूर्य का उदय अस्त होता है तथा इसी प्रकार प्रातःकाल मध्याह्नकाल वा सायंकाल होता है। इसलिये पृथ्वी के भ्रमण करने में सूर्य का

उदय अस्त वा मध्याह्न का होना ही हेतु है। यदि पृथ्वी भ्रमण न करती तो स्थिर नक्षत्र के होने पर उदय अस्त कभी नहीं होता। इसलिये सूर्य का उदय अस्त होना ही पृथ्वी-भ्रमण का अविनाभावी हेतु है। परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि यह हेतु प्रमाण वाधित है। यदि कोई यह कहे कि यह अग्नि ठंडी है क्योंकि वह द्रव्य है। जो जो द्रव्य होते हैं वे ठंडे होते हैं जैसे जल। अग्नि भी द्रव्य है इसलिये वह भी ठंडी है। जिस प्रकार यह द्रव्यत्व हेतु प्रमाण वाधित है क्योंकि अग्नि प्रत्यक्ष प्रमाण से स्पर्श करने मात्र से गर्म प्रतीत होती है उसी प्रकार सूर्य का उदय अस्त होना भी प्रमाण वाधित है। क्योंकि यदि हम नक्षत्र मण्डल को भ्रमण करता हुआ मान लेते हैं तो फिर बिना पृथ्वी के भ्रमण किये भी सूर्य के उदय अस्त की प्रतीति अपने आप हो जाती है। इसलिये पृथ्वी के भ्रमण में सूर्य के उदय अस्त का होना नियम से साध्य का अविनाभावी सिद्ध नहीं हो सकता। अर्थात् पृथ्वी के भ्रमण से ही सूर्य का उदय अस्त होता है, यह बात नियम पूर्वक नहीं हो सकती। क्योंकि पृथ्वी के स्थिर रहने पर और सूर्य के भ्रमण करने पर भी सूर्य का उदय अस्त नियम पूर्वक होता ही है। इसके सिवाय पृथ्वी के भ्रमण करने का प्रतिवाद पहले विस्तार पूर्वक कर चुके हैं।

आगे पृथ्वी के स्थिर रहते हुए सूर्य का उदय अस्त किस प्रकार होता है यही बात दिखलाते हैं।

इस मध्य लोक में असंख्यात द्वीप समुद्र हैं । सबके मध्य में जम्बूद्वीप है । जम्बूद्वीप का व्यास एक लाख योजन है । उसको चारों ओर से घेरे हुए लवण समुद्र है । उसका एक ओर का विस्तार दो लाख योजन है । उसको घेरे हुए चार लाख योजन चौडा घातकी खंड द्वीप है । उसको घेरे हुए आठ लाख योजन चौडा कालोद समुद्र है । इस प्रकार एक दूसरे को घेरे हुए दूने दूने विस्तार को लिये असंख्यात द्वीप समुद्र हैं । जम्बूद्वीप के मध्यभाग में मेरु पर्वत है । उस मेरु पर्वत के चारों ओर ग्यारह सौ बीस योजन छोड कर तारे ग्रह नक्षत्रादिक हैं और वे सब असंख्यात द्वीप समुद्रों तक हैं । इस पृथ्वी से सातसौ नव्वे योजन ऊंचाई से लेकर नौसौ योजन तक के मध्य में अर्थात् एक सौ दस योजन के मण्डल में तारे नक्षत्र ग्रह आदि हैं । इन सब नक्षत्र मण्डल में से ढाई द्वीप के (जम्बूद्वीप लवण समुद्र, धातकीखण्ड द्वीप कालोद समुद्र और आधे पुष्कर के) नक्षत्रादिक मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा देते हुए भ्रमण करते हैं तथा ढाई द्वीप के आगे के नक्षत्रादिक सब स्थिर हैं ।

इस प्रकार नक्षत्र मण्डल मेरु की प्रदक्षिणा देता हुआ भ्रमण किया करता है, ऊपर नीचे की ओर भ्रमण नहीं करता । यदि ऊपर नीचे की ओर ही नक्षत्र मण्डल का भ्रमण मानोगे तो फिर पृथ्वी को फोड कर नीचे की ओर जाते हैं और फोडकर ही ऊपर को आते हैं ऐसा मानना पडेगा । अथवा ग्यारह सौ बीस योजन की ही पृथ्वी माननी पडेगी । यदि ग्यारह सौ बीस योजन की

गोल पृथ्वी मानते हो तो वह भी ठीक नहीं है । क्योंकि केवल उत्तर की ओर भी बहुत बडा पृथ्वी का भाग पडा हुआ है। कदाचित् यह कहो कि ग्यारह सौ बीस योजन का सौ वां भाग अर्थात् कुछ अधिक ग्यारह योजन पृथ्वी समधरातल है शेष सब भूमि गुलाई लिये हुए है सो भी ठीक नहीं है। क्योंकि कुरु क्षेत्र में बारह योजन भूमि भी समधरातल देखी जाती है । यदि कुरुक्षेत्र की भूमि को अलग भूगोल मानोगे अर्थात् वहां की पृथ्वी भी बारह योजन समधरातल है शेष गुलाई लिये हुए गोल पृथ्वी है सो भी ठीक नहीं है क्योंकि इस प्रकार अनेक भूगोल सिद्ध हो जायेंगे और इस प्रकार अनवस्था दोष आजायगा।

यदि पृथ्वी को स्थिर मानते हुए भी उसे गोल मानलें तो फिर गंगा नदी पूर्व को बहती है और सिन्धु नदी पश्चिम को बहती है यह बात कैसे संघटित होगी। कदाचित् यह कहो कि नदियां सब स्थिर भूगोल के मध्य भाग से निकलती हैं तो फिर बताना चाहिये कि भूगोल का मध्य कहां है ? यदि भूगोल का मध्य भाग उज्जयिनी को मानलें तो वहां से तो गंगा सिंधु निकलती नहीं। यदि यह कहा कि जहां से ये नदियां निकलती हैं वही भूगोल का मध्य भाग है तो यह बात भी किसी प्रकार नहीं बन सकती है क्योंकि जहां से गंगा नदी निकलती है यदि उसको ही मध्य भाग मानते हो तो सिंधु नदी का उद्गम स्थान वहां से बहुत दूर है इसलिये सिन्धु नदी का उद्गम स्थान भूगोल का मध्य भाग नहीं हो सकता। यदि सिन्धु नदी के उद्गम स्थान की बाह्य भूमि की

अपेक्षा सिन्ध नदी के उद्गम स्थान को भूगोल का मध्य मान लोगे तो फिर भूगोल का मध्य भाग समस्त स्थानों को मान लेना पडेगा अमध्य भाग कहीं भी नहीं ठहरसकेगा। इसलिये उज्जयिनी को भूगोल का मध्य भाग मानने वाले को अपना सिद्धान्त छोड देना पडेगा। यदि उज्जयिनी को भूगोल का मध्य भाग मानने का सिद्धान्त नहीं छोडा जायगा तो फिर यह भी मान लेना पडेगा कि उज्जयिनी के उत्तर की ओर से उत्तर मुख निकलनेवाली नदियां सब उत्तर की ओर ही बहेंगी, दक्षिण की ओर से दक्षिणमुख निकलने वाली नदियां दक्षिण की ओर बहेंगी, उज्जयिनी के पूर्व की ओर से पूर्वमुख निकलने वाली नदियां पूर्व की ओर बहेंगी तथा पश्चिम की ओर से निकलने वाली पश्चिम मुख नदियां पश्चिम की ओर बहेंगी। परन्तु उज्जयिनी से न तो कोई नदी निकलती है और न कभी ऐसा हो सकता है। यदि यह कहो कि भूमि के अवगाहन के भेद से नदियों की गति भी भिन्न भिन्न हो जाती है सो भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने से तो स्थिर भूगोल के मध्य में एक महावगाह मानना पडेगा। यदि महावगाह माना जायगा तो फिर यह भी मानना पडेगा कि पृथ्वी गोल है इसलिये नीचे की ओर जितना अवगाह है उतनी ही ऊँचाई ऊपर की ओर माननी पडेगी परन्तु यह बात भी कभी नहीं बन सकती। इसलिये यह मानना ही पडेगा कि जितनी नदियां हैं वे सब भूगोल को (स्थिर गोल पृथ्वी को) उल्लंघन करके ही बहती हैं। पृथ्वी को गोल मानने से नदियों का प्रवाह कभी सिद्ध नहीं हो सकता। यदि फिर भी

हठ पूर्वक माना जायगा तो फिर यही मानना पडेगा कि नदियां सब गोल पृथ्वी को विदीर्ण कर ही वहती हैं । परन्तु यह बात सर्वथा असम्भव है । इसलिये मानना पडेगा कि स्थिर पृथ्वी भी गेंद के समान गोल नहीं है किन्तु समधरातल रूप है । पृथ्वी को गोल न मान कर समधरातल रूप मानने से समुद्र के जल की स्थिरता में भी कोई विरोध नहीं आता है ।

सूतक प्रकरण

इस संसार में मनुष्यों के द्रव्य और भाव दोनों ही सूतक से मलिन हो जाते हैं तथा द्रव्य और भाव के मलिन होने से धर्म और चरित्र स्वयं मलिन हो जाता है । इसीलिये सूतक पातक मानने से द्रव्य-शुद्धि होती है, द्रव्य-शुद्धि होने से भाव-शुद्धि होती है और भाव-शुद्धि होने से चारित्र निर्मल होता है । इस संसार में मनुष्यों का सूतक रागद्वेष का मूल कारण है, तथा राग द्वेष से अपने आत्मा की हिंसा करने वाले हर्ष और शोक प्रकट होते हैं । यह निश्चित सिद्धान्त है कि मनुष्य-जन्म में भी धर्म की स्थिति शरीर के आश्रित है । इसलिये मनुष्यों के शरीर की शुद्धि होने से सम्यग्दर्शन और व्रतों की शुद्धि करने वाली धर्म की शुद्धि होती है । अतएव धर्म की शुद्धि के लिये तथा सम्यग्दर्शन और व्रतों की शुद्धि के लिये समस्त शुद्धियों को उत्पन्न करने वाला इस सूतक पातक का पालन अवश्य करना चाहिये । यदि सूतक पातक का पालन नहीं किया जाता

है तो ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों का सज्जातिपना नष्ट हो जाता है। और सूतक पातक का पालन किये बिना मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति होती भी है और नहीं भी होती है। भगवान जिनेन्द्र देव की आज्ञा को पालन करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों को सूतक पातक का पालन किये बिना देव-पूजा, गुरू की उपासना आदि कार्य कभी नहीं करने चाहिये। जो श्रावक सूतक पातक में भी भगवान जिनेन्द्र देव की पूजा करता है वा गुरू की उपासना करता है उसके केवल पाप का ही आस्रव होता है। जो पुरुष अपने अज्ञान से वा प्रमाद से सूतक पातक को नहीं मानता वह जैन होकर भी मिथ्यादृष्टी माना जाता है। तथा भगवान जिनेन्द्र देव की आज्ञा का लोप करने वाला माना जाता है।

भगवान जिनेन्द्र देव ने व्रत पालन करने वाले ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्यों को चार प्रकार का सूतक बतलाया है। पहला आर्तव अर्थात् स्त्रियों के ऋतु धर्म वा मासिक धर्म से होने वाला, दूसरा सौतिक अर्थात् प्रसूति से होने वाला, तीसरा मार्त्यव अर्थात् मृत्यु से होने वाला और चौथा उनके संसर्ग से होने वाला। इनमें से आर्तव सूतक स्त्रियों को होता है। इसको रजो धर्म वा मासिक धर्म कहते हैं। वह रज असंख्यात जीवों से भरा रहता है और इसीलिये वह हिंसा का मूल कारण है। इसके सिवाय वह रज परिणामों में विकार उत्पन्न करने वाला है, अपवित्रताका कारण है और ग्लानि आदि का मूल कारण है। इस संसार में वह रजो धर्म दो प्रकार का है। एक प्राकृत और दूसरा वैकृत।

स्त्रियों के रजो धर्म स्वभाव से ही प्रत्येक महीने में होता है उसको प्राकृतिक वा स्वाभाविक रजो धर्म कहते हैं, तथा इसके सिवाय रोगादिक के कारण जो रजो धर्म महीने से पहिले ही हो जाता है उसको वैकृति वा विकार से उत्पन्न होने वाला रजो धर्म कहते हैं। प्राकृतिक अर्थात् प्रत्येक महीने में होने वाले रजो धर्म में स्त्रियों को उस रजो धर्म के होने के समय से तीन दिन तक सूतक मानना चाहिये। चौथे दिन वह स्त्री केवल पतिके लिये शुद्ध मानी जाती है, तथा दान और पूजा आदि कार्यों में पांचवें दिन शुद्ध मानी जाती है। इस रजोधर्म में वह स्त्री पहले दिन चांडालिनी के समान मानी जाती है, दूसरे दिन ब्रह्मचर्य को घात करने वाली के समान मानी जाती है और तीसरे दिन धोबिन के समान मानी जाती है। इस प्रकार तीन दिन तक तो वह अशुद्ध रहती है, चौथे दिन मस्तक पर से स्नान करने पर वह शुद्ध होती है। यदि किसी रोगादिक के कारण से ऋतु काल के बीत जाने पर अठारह दिन के भीतर ही रजःस्वला हो जाय तो उसकी शुद्धि स्नान करलेने मात्र से ही हो जाती है। यदि रजः-स्वला स्त्री स्नान करलेने के बाद किसी रोगसे अथवा किसी राग की तीव्रता से फिर रजःस्वला हो जाय तो उसे उस दिन का सूतक मानना चहिये। यदि कोई स्त्री किसी महारोग के कारण अकाल में ही रजःस्वला हो जाय तो फिर उसका सूतक नहीं माना जाता। अकाल में स्त्री रजःस्वला होने पर वह स्त्री केवल स्नान करने मात्र से शुद्ध हो जाती है। पचास वर्ष से ऊपर की अवस्था

को अकाल कहते हैं। स्त्रियों के अकाल में जो रजो धर्म होता है वह किसी विकार से उत्पन्न होता है इसलिये वह दोष उत्पन्न करने वाला नहीं माना जाता। यदि कोई स्त्री आधी रात पहले रजःस्वला हो जाय वा आधीरात के पहले किसी का मरण हो जाय तो उसका सूतक पहले दिन समझना चाहिये ऐसा सूतक प्रकरण का निश्चित सिद्धान्त है। किसी किसी का यह भी सिद्धान्त है कि यदि कोई स्त्री अत्यन्त यौवनवती हो और वह सोलह दिन के पहले ही रजःस्वला हो जाय तो वह स्नान करने मात्र से शुद्ध होती है। यदि कोई स्त्री स्पष्ट रीति से बार बार रजःस्वला होती रहे तो दान पूजा आदि कार्यों में उसकी शुद्धि नहीं मानी जाती। यदि कोई स्त्री रसोई बनाते समय वा अन्य कोई ऐसा ही कार्य करते समय रजःस्वला हो जाय तो उसे वे सब काम छोड देने चाहिये और फिर लघु प्रायश्चित करना चाहिये। यदि किसी स्त्री को रजःस्वला होने की शंका मात्र ही हो जाय और वास्तव में रजःस्वला न हो तो उसे स्नान कर कुल्लाकर भोजनादिक बनाना चाहिये वा जिन पूजा आदि कार्य करने चाहिये। यदि कोई स्त्री पात्रदान वा जिन पूजा आदि करती हुई रजःस्वला हो जाय तो उसे सब क्रियाएं छोड देनी चाहिये और फिर प्रायश्चित लेना चाहिये।

यदि कोई स्त्री बार बार रजःस्वला होती हो, स्नान करने बाद फिर रजःस्वला हो जाती हो तो उसे जिन पूजा वा पात्र दान आदि कोई कार्य नहीं करने चाहिये। इन धार्मिक क्रियाओं के करने

में फिर उसका कोई अधिकार नहीं रहता। यदि कोई स्त्री किसी रोगादिक के कारण वार वार रजःस्वला होती हो तो फिर दानपूजा आदि धार्मिक कार्यों में उसका कोई अधिकार नहीं रहता। रजः-स्वला स्त्री को किसी एकांत स्थान में मौन धारण कर बैठना चाहिये, ब्रह्मचर्य पालन करना चहिये और अन्य किसी का भी स्पर्श नहीं करना चाहिये। उस रजःस्वलाको न तो अपने घरका कोई कार्य करना चाहिये और न गाना, बजाना, नृत्य करना, सीना, रांधना, हंसना, पीसना पानी छानना आदि कार्य करने चाहिये। रजःस्वला स्त्री को देव पूजा आदि षट् कार्यों में से कोई कर्म नहीं करना चाहिये। उसे तो केवल अपने हृदय में भगवान जिनेन्द्र देवका स्मरण करते रहना चाहिये। किसी देव वा गुरु जनों के साथ कोई किसी प्रकार की वातचीत भी नहीं करनी चाहिये। रजःस्वला स्त्री को दर्पण में अपना मुख वा रूप कभी नहीं देखनो चाहिये और न काम के वशीभूत होकर अन्य मनुष्यों को अपना रूप दिखाना चाहिये। रजःस्वला स्त्री को कामादिक के विकार सर्वथा नहीं करने चाहिये। कलह शोक भी नहीं करना चाहिये, रोना पीटना भी नहीं करना चाहिये, और न लडाई झगडा ताडन मारण आदि करना चाहिये। रजःस्वला स्त्री को पत्तल वा पीतल के वर्तन में नीरस भोजन करना चाहिये, और एकांत में स्वस्थ चित्त होकर एकाशन करना चाहिये। क्षुल्लिका अर्जिका आदि दीक्षिता स्त्रियों को यदि सामर्थ्य होतो रजःस्वला होने पर तीनों दिन तक उपवास करना चाहिये। यदि इतनी

सामर्थ्य न हो तो अपनी शुद्धि कर भोजनशाला से दूर बैठकर और अपने शरीरको ढककर नीरस शुद्ध भोजन करना चाहिये। तथा एकांतमें शुद्धिकर धुली हुई धोती पहिनकर मौन पूर्वक नीरस आहार से एकाशन करना चाहिये। क्षुल्लिका वा अर्जिकाओं को रजःस्वला अवस्थामें तीनों दिन अत्यंत शांत भाव के साथ प्रसन्न मनसे निकालने चाहिये और चौथे दिन दो पहर के समय शुद्ध जलसे स्नान करना चाहिये। उस समय उस क्षुल्लिका वा अर्जिकाको वस्त्र सहित सर्वांग स्नान करना चाहिये तथा आचमन भी करना चाहिये। गृहस्थ अवस्थामें रहने वाली रजःस्वला स्त्रियों को भी तीनों दिन इसी प्रकार व्यतीत करने चाहिये। उस गृहस्थ रजःस्वला स्त्री को चौथे दिन वस्त्र सहित सर्वांग स्नान करना चहिये तथा आचमन कर गर्म जलसे वा शुद्ध छने जलसे स्नान करना चाहिये। स्नान करने के अनंतर उसे प्रसन्न चित्त होकर अपने पतिका दर्शन करना चाहिये, अपने हृदय में पतिका ही चिंतन करना चाहिये। यह उसको एक व्रत समझना चाहिये। चौथे दिन स्नान करने के अनंतर वह स्त्री पति के लिये शुद्ध मानी जाती है तथा पति के लिये भोजन बना सकती है। परंतु देव-पूजा, पात्र-दान और होम क्रिया आदि कार्यों के लिये वह पांचवें दिन शुद्ध मानी जाती है। चौथे दिन स्नान करते समय उस स्त्रीको अपने वस्त्र कंबल शय्या आदि सबको शुद्ध जल से धो डालना चाहिये और अपने खाने पीने के मिट्टी के बर्तनों को घर के बाहर फेंकदेना चाहिये। यदि उसने पीतल के बर्तन में भोजन किया हो तो उसको मांजकर अग्नि

से शुद्ध कर लेना चाहिये। यदि और भी कोई चीज उसने ली हो तो वह सब भी शुद्ध कर लेनी चाहिये। यदि कोई पुरुष अपनी भूलसे वा अज्ञान से रजःस्वला स्त्री के वस्त्र वा वर्तन स्पर्श करले तो उसकी शुद्धि स्नान करने से ही होती है। यदि कोई पुरुष उस स्त्री के द्वारा दिये हुए भोजन को खाले तो उसे स्नान आचमन कर प्रायश्चित्त लेना चाहिये। जो पुरुष अपने दुष्ट परिणामों से जान बूझकर रजःस्वला स्त्रीका स्पर्श करले तो उसको पंचामृताभिषेक करने का प्रायश्चित्त लेना चाहिये। यदि रजःस्वला स्त्री अपने रजोधर्म का ज्ञान न होने के कारण किसी वस्त्रादिक का स्पर्श करले तो उन सब वस्त्रादिकों को धोकर शुद्ध करना चाहिये और उस पृथ्वीको मिट्टी से लीपना चाहिये। जो कोई पुरुष जानबूझकर विना शुद्ध किये हुए रजःस्वला के वर्तनों में खालेता है तो उसका प्रायश्चित्त एक उपवास और एक एकाशन करना है। जो पुरुष रजःस्वला अवस्थामें भी स्त्री के साथ काम चेष्टा करना चाहता है उसको दो उपवास करने का प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिये। जो पुरुष जान बूझकर रजःस्वला स्त्री का सेवन करता है वह मूर्ख गुरु के द्वारा दिये हुए प्रायश्चित्त से ही शुद्ध होता है। इसके सिवाय उसे पंचामृत से भगवान जिनेन्द्र देवका अभिषेक करना चाहिये और स्नान आचमन कर एकसौ आठवार पंच नमस्कार मंत्रका जप करना चाहिये। रजःस्वला स्त्रियों को अपना रजोधर्म बंद हो जाने पर अपने वस्त्र वा वर्तन आदि शुद्ध कर लेने चाहिये।

भावार्थ—यदि चौथे दिन भी रजोधर्म बंद न हो तो उसे रजोधर्म बंद होने पर अपनी शुद्धि करनी चाहिये तथा जबतक रजोधर्म होता रहे तब तक उसे अशुद्ध ही समझना चाहिये। यदि आठ वर्ष से ऊँची अवस्था का बालक रजःस्वला का स्पर्श करले तो उसकी शुद्धि स्नान करने से ही होती है। परंतु दूध पीने वाला बालक रजःस्वला के स्पर्श कर लेने पर प्रोक्षण करने से ही अर्थात् पानी का छींटा देने मात्र से ही शुद्ध हो जाता है। यदि कोई बालक सोलह वर्ष का हो और वह रोगी हो तथा वह रजःस्वला का स्पर्श कर ले तो पंच नमस्कार मंत्रका उच्चारण कर प्रोक्षण करने से वा जलका छींटा देने से ही वह शुद्ध हो जाता है। यदि कोई रजःस्वला स्त्री बीमार हो तो विधि पूर्वक पंच नमस्कार मंत्रका उच्चारण कर गीले कपडे से अच्छी तरह पोंछ लेने से ही उसकी शुद्धि हो जाती है। यदि कोई रजःस्वला स्त्री अधिक बीमार हो तो गीले कपड़े से पोंछ लेने से शुद्ध हो जाती है अथवा बारह बार पंच नमस्कार मंत्रका उच्चारण कर पानी के छींटे देने से भी शुद्ध हो जाती है। यदि किसी स्त्रीको जन्म का वा मरण का अथवा किसी के स्पर्श करने का सूतक लगा हो और वह बीचमें ही रजःस्वला हो जाय तो उसे स्नान करके ही भोजन करना चाहिये। यदि भोजन करते समय रजःस्वला हो जाय तो उसे अपने मुखका अन्न बाहर निकाल देना चाहिये और फिर स्नान कर भोजन करना चाहिये। फिर नियमानुसार सूतक पालना चाहिये। यदि किसी

स्त्री को भोजन के सयम में रजःस्वला होने का संदेह हो परंतु वास्तवमें रज.स्वला न हो तो उसे स्नान और आचमन कर फिर स्नान कर भोजन करना चाहिये। उसके बाद उसको फिर कोई सूतक नहीं है। यदि कोई स्त्री सूतकमें वा पातकमें रजःस्वला हो जाय तो कोई शुद्ध मनुष्य पंचनमस्कार मंत्रका उच्चारण कर इसके ऊपर पानीके वार वार छींटे देवे तो वह स्त्री मंत्र के प्रभाव से उसी समय शुद्ध मानी जाती है। यदि कोई स्त्री ज्वर आदि किसी रोग से अत्यन्त पीडित हो और उस रोग से बहुत दुखी हो तथा उसी अवस्था में वह रजःस्वला हो जाय तो उसकी शुद्धि इस प्रकार करनी चाहिये कि चौथे दिन कोई दूसरी स्त्री उसका स्पर्श करे फिर स्नान आचमन कर उसका स्पर्श करे। इस प्रकार दश बारह वार वह स्त्री स्नान आचमन कर उसका स्पर्श करे। अंत में उसके सव वस्त्र वदलवा कर वह स्त्री स्नान कर लेवे। इस प्रकार कर लेने से वह रजःस्वला शुद्ध हो जाती है। रजःस्वला स्त्री जहां वैठी हो, जहां सोई हो वा जहां पर वैठ कर उसने भोजन किया हो उन सव स्थानों को गोवर मिट्टी से लीपकर शुद्ध करना चाहिये। अथवा जलसे धोकर शुद्ध करना चाहिये। इस प्रकार उसके रहने के स्थान को भी प्रमाद रहित होकर अच्छी तरह शुद्ध कर लेना चाहिये। जो पुरुष अपने अज्ञान के कारण रजःस्वला के आचार विचारों को नहीं मानता उसे शूद्र, क्रियाहीन और पापी ही समझना चाहिये। जो स्त्री अपनी अज्ञानता के कारण रजःस्वलाके आचार विचारों को नहीं मानती उसे भी शूद्रा ही समझना चाहिये। तथा

वह स्त्री भी धर्म कर्म से रहित पापिनी ही समझी जाती है। ऐसी स्त्री भगवान जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका लोप करने से दुःख देने वाली दुर्गति को प्राप्त होती है। जो स्त्री अपनी कुशिक्षा के कारण वा कुसंगति के कारण जानती हुई भी रजःस्वलाका सूतक नहीं पालती है वह स्त्री भी नरक में जाती है। ऐसी स्त्री भगवान जिनेन्द्र देव के द्वारा मिथ्यादृष्टिनी और पापिनी कही जाती है। यह रजःस्वला का आचार विचार सब प्रकार की शुद्धि को करने वाला है और भावों की शुद्धि को उत्पन्न करने वाला है। इसलिये जो मनुष्य अपनी कुशिक्षा के कारण रजःस्वला के आचार विचारों को नहीं मानता वह मनुष्य भी मिथ्यादृष्टी भगवान जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका लोप करने वाला बुद्धिहीन, क्रियाहीन, भ्रष्ट, पापी और नरकगामी कहा जाता है। इस प्रकार जो स्त्री अपने द्रव्य और भावों की शुद्धि के लिये अपने परिणामों से भगवान जिनेन्द्र देवकी आज्ञानुसार रजःस्वला के आचार विचारों का पालन करती है वह स्त्री व्रत और चारित्र से सुशोभित होकर अत्यन्त शुभ और सर्वोत्कृष्ट अपने कुलकी विशुद्धि को प्राप्त होती है और अंत में स्वर्गकी लक्ष्मी को प्राप्त होती है। इस प्रकार रजःस्वला का सूतक निरूपण किया।

अब आगे अपने आचार विचारों की शुद्धि के लिए जन्म संबंधी सूतक का निरूपण करते हैं। जन्म संबंधी सूतक स्राव, पात और प्रसूति के भेद से तीन प्रकार का माना है। यदि गर्भाधान से चार महीने तक गर्भ गिर जाय तो उसको स्राव कहते हैं। यदि

पांचवें छठे महीने में गर्भ गिर जाय तो उसको पात कहते हैं तथा सातवें आठवें नौवें दशवें महीने में जो गर्भ बाहर आजाता है उसको प्रसूति कहते हैं। इस प्रकार भगवान जिनेन्द्र देवने अपने जिन शासन में बतलाया है। इनमें से जितने महीने का स्राव होता है माता के लिये उतने ही दिनका सूतक माना जाता है। तथा पिता आदि कुटुम्बी लोगों की शुद्धि केवल स्नान कर लेने मात्र से ही हो जाती है। इसी प्रकार जितने महीने का गर्भ पात होता है माता के लिये उतने दिनका ही सूतक माना जाता है तथा पिता और उसके कुटुम्बी लोगों को एक दिनका सूतक माना जाता है। तथा प्रसूति होने पर पिता और उसके कुटुम्बी लोगों को दश दिनका सूतक माना जाता है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और सच्छूद्रों के लिये कोई कोई लोग पंद्रह दिनका और कोई कोई लोग बारह दिनका सूतक कहते हैं। जो लोग क्रिया संस्कारों से रहित हैं उनको पंद्रहदिन का ही सूतक मानना चाहिये। यदि किसी क्षत्रिय या राजा महाराजा को कोई आवश्यक कार्य आजाय तो मंत्र और व्रतों की विशुद्धता के कारण जिनागम के अनुसार उनके लिये थोडा सूतक भी बतलाया है। उस समय वे जिन पूजा आदि कार्यों को दूसरों के हाथ से कराते हैं। इसी प्रकार वे क्षत्रिय लोग अपने आत्माको शांति पहुँचाने के लिये भगवान जिनेन्द्र देवकी आज्ञानुसार उस समय और भी धर्म कृत्यों को दूसरों के हाथ से कराते हैं। जिस मकान में प्रसूति होती है उसमें एक महीने का सूतक माना जाता है, तथा उसकी पूर्ण शुद्धि भगवान जिनेन्द्र देवने

चालीस दिन में वतलाई है। उस प्रसूति के मकान में चालीस दिन तक पात्र दान या गुरूकी उपासना और होम क्रिया आदि कार्य नहीं किये जा सकते। तथा जिसके संतान हुई है ऐसी प्रसूता स्त्री डेढ महीने तक भगवान जिनेन्द्र देवकी पूजा और पात्र दान नहीं कर सकती। यदि किसी श्रावक के घर किसी दासी की प्रसूति हुई हो वा घोडी की प्रसूति हुई हो तो उस घर में तीनदिन तक सूतक मानना चाहिये। यदि अपने घर किसी दासी की प्रसूति हुई हो तो उस घरमें रहने वालों को धर्म कार्यों में पांच दिन तक सूतक मानना चाहिये। यदि अपने घर बिल्ली, ऊंटिनी, कुत्ती, गाय, भैंस, वकरी आदिकी प्रसूति हुई हो तो उस घर में रहने वालों को एक दिन का सूतक मानना चाहिये। यदि गाय भैंस, कुत्ती, बिल्ली आदि की प्रसूति अपने घर के वाहर हुई हो तो उस घर में रहने वालों को किसी प्रकारका सूतक नहीं लगता। क्योंकि घरके वाहर प्रसूति होने से उसके साथ घर वालों का कोई संबंध नहीं रहता। यदि अपने घर धेवती (पुत्री की पुत्री) की प्रसूति हुई हो तो उस घर वालों को एक दिनका सूतक लगता है। यदि पुत्री वा बहिन की प्रसूति हुई हो तो उस घर वालों को तीन दिन का सूतक लगता है। ऐसे लोगों को अर्थात् सूतक वालों को शुद्धि के अन्त में भगवान जिनेन्द्र देव का अभिषेक कर भगवान की पूजा करनी चाहिये। और फिर पात्र दान देना चाहिये। ऐसे भगवान जिनेन्द्र देव का मत है। जिस स्त्री की प्रसूति होती है उसको डेढ महिने का सूतक माना गया है और पिता आदि सपिंड वा कुटुम्बी लोगों

को दश दिनका सूतक माना गया है। यदि प्रसूता स्त्री के पुत्र उत्पन्न हुआ हो तो उस माता को दश दिन तक तो अनिरीक्षण नामका सूतक लगता है अर्थात् दश दिन तक तो किसी को भी उसका दर्शन नहीं करना चाहिये। तदनंतर बीस दिन तक घर के किसी भी काम को करने का उसको अधिकार नहीं माना जाता। इस प्रकार पुत्र उत्पन्न करने वाली प्रसूता स्त्री को एक महीने का सूतक लगता है। एक महीने के बाद वह स्त्री जिन पूजा और पात्रदान के लिये शुद्ध मानी जाती है। यदि उस प्रसूता स्त्री को कन्या उत्पन्न हुई होतो उसको दश दिन तक अनिरीक्षण नामका सूतक है और बीस दिन तक घर के काम काज करने के अधिकार के न होने का सूतक है। इसके बाद पन्द्रह दिन तक उसको जिन पूजा और पात्रदान देने का अधिकार नहीं रहता। इस प्रकार उस कन्या उत्पन्न करने वाली प्रसूता स्त्री के लिये पैंतालीस दिनका सूतक माना है। ऐसे भगवान जिनेन्द्र देवकी आज्ञा है। जो प्रसूता स्त्री अपने अज्ञान वा प्रमाद के कारण इस सूतक को नहीं मानती उसको भगवान जिनेन्द्र देव मिथ्यादृष्टिनी कहते हैं। वह सूतकको न मानने वाली स्त्री पापिनी हीनगोत्रवाली, दुर्गतियों को जाने वाली, भगवान जिनेन्द्रदेव की आज्ञाको लोप करने वाली, दुष्टा और सदाचार से रहित मानी जाती है। जहां पर ब्राह्मणों को तीन दिनका सूतक माना जाता है वहीं पर क्षत्रियों को चार दिन का, वैश्यों को पांच दिन का और शूद्रों को आठ दिनका सूतक मानना चाहिये। जिस घर में प्रसूति हुई है उस घरको सात सात दिन अथवा नौ नौ दिन बाद गोबर

मिट्टी से लीपना चाहिये तथा गर्म जल से प्रसूता को स्नान करना चाहिये। उस प्रसूता के वस्त्र शय्या आदि धोबी से धुलाना चाहिये अथवा शुद्ध जलसे स्वयं धो डालना चाहिये। इसी प्रकार प्रसूता के काम में आये हुए धातुके वर्तनों को अच्छी तरह मांजकर अग्नि से शुद्ध कर लेना चाहिये और मिट्टी के वर्तनों को घर के वाहर फेंक देना चाहिये। इस प्रकार की यह शुद्धि प्रयत्न पूर्वक प्रत्येक सात दिन के वाद करनी चाहिये। जब तक उस प्रसूताकी पूर्ण शुद्धि न हो जाय तब तक इसी प्रकार की शुद्धि वरावर करते रहना चाहिये और स्नान करते समय उस प्रसूताको वस्त्र सहित स्नान करना चाहिये और आचमन भी करना चाहिये। इस प्रकार प्रसूता की यह शुद्धि जिनागम के अनुसार निरूपण की है। श्रावकों को अपनी शुद्धि के लिये स्वयं इसका पालन करना चाहिये और दूसरों से पालन कराना चाहिये। भगवान जिनेन्द्र देवने सातवीं पीढी के लिये स्नान करने यज्ञोपवीत वदलने आदि क्रिया के वाद एक दिनका सूतक माना है। एक दिन के वाद ही उनकी शुद्धि हो जाती है। छठी पीढी के लोगों के लिये पांच दिनका सूतक माना है और पहली दूसरी तीसरी चौथी पीढी के लोगों के लिये पूर्ण सूतक माना है। यह पूर्ण सूतक पिता आदि कुटम्बी लोगों को ही लगता है अन्य किसी को नहीं। यह नियम मरण के सूतक में भी माना जाता है और प्रसूति के सूतक में भी माना जाता है। इसलिये वुद्धिमान लोगों को क्रिया और समस्त विधियों के पूर्वक इस सूतक पातक का अवश्य पालन करना चाहिये।

मरने का सूतक

अब आगे मरणका सूतक कहते हैं। किसी के जन्म होने पर तथा नाभि छेदन के बाद किसी बालक के मर जाने पर माता पिता और कुटुम्बी लोगों को पूर्ण सूतक मानना चाहिये। जो बालक जीता हुआ उत्पन्न होता है और नाभि छेदन के पहले ही मर जाता है उसका सूतक माता के लिये पूरा माना जाता है। तथा पिता आदि कुटुम्बी लोगों को तीन दिन तक सूतक मानना चाहिये। यदि कोई बालक दश दिन के भीतर ही मर जावे उसका सूतक माता पिता के लिये दश दिनका माना जाता है और अन्य लोगों की शुद्धि स्नान कर लेने मात्र से हो जाती है। यदि कोई बालक दशवें दिन के अंत में मर जावे तो दो दिनका सूतक माना जाता है तथा ग्यारहवें दिन मर जावे तो तीन दिन का सूतक मानना चाहिये। यदि कोई बालक नाम करण के पहले मर जावे तो माता पिताको तीन दिनका तथा अन्य लोगों की शुद्धि स्नान कर लेने मात्र से होजाती है। तथा माता की शुद्धि एक महीने में होती है। यदि दांत निकलने के बाद किसी बालक की मृत्यु हो जाय तो माता पिता को दश दिनका सूतक लगता है; निकट के कुटुम्बियों को एक दिनका और दूसरे कुटुम्बी लोगों की शुद्धि स्नान कर लेने मात्र से हो जाती है। चौथी पीढी तक के लोग निकट कुटुम्बी माने जाते हैं। पांचवीं पीढी के और उससे आगे के लोग दूरके कुटुम्बी माने जाते हैं। यदि कोई कन्या तीन वर्ष के भीतर भीतर मर जाय तो माता पिता

को तीन दिन का सूतक लगता है और अन्य लोगों की शुद्धि स्नान मात्र से हो जाती है। यदि कोई कन्या मुंडन करने से पहले मर जाय तो माता पिता को तोन दिनका और भाई बंधुओं को स्नान करने मात्र का सूतक है। यदि कोई कन्या व्रत ग्रहण करने से पहले मर जाय तो माता पिता को तीन दिन का सूतक लगता है और भाई बन्धुओं को एक दिन का सूतक लगता है। यदि कोई कन्या विवाह से पहले मर जाय तो माता पिताको तीन दिन का और अन्य कुटुम्बी लोगों को दो दिन का सूतक लगता है। यदि कोई कन्या विवाह के बाद मर जाय तो माता पिताको दो दिनका सूतक लगता है और अन्य कुटुम्बी लोगों को स्नान करने मात्रका सूतक है। यदि कोई विवाहित कन्या माता पिता के घर मर जाय तो माता पिता को तीन रातका सूतक लगता है तथा अन्य कुटुम्बी लोगों को एक दिन का सूतक माना जाता है। यदि किसी कन्या के माता पिता किसी कन्या की सुसराल में जाकर मरें तो उस कन्या को तीन दिनका सूतक लगता है यदि वे कन्या के माता पिता किसी दूसरी जगह मरें और उस कन्याको दश दिन के भीतर मालूम हो जाय तो उस कन्या को तीन दिनका ही सूतक मानना चाहिये। यदि माता पिता के भाई की मृत्यु हो जाय तो उस कन्या को एक दिन का सूतक मानना चाहिये। तथा माता के भाई के मरने पर कोई कोई लोग स्नान करने मात्र का सूतक मानते हैं। परन्तु यह स्नान करने मात्रका सूतक मानना आदि उस घर में रहने वाले अन्य लोगों के लिये समझना चाहिये। यदि

कोई भाई अपनी बहिन के घर मरा हो तो बहिन को तीन दिनका सूतक लगता है। यदि किसी बहिन का मरण भाई के घर हो तो भाई को तीन दिन का सूतक मानना चाहिये। यदि दोनों का मरण अपने अपने घर हो अथव किसी दूसरी जगह हो तो उन भाई बहिन दोनों को दो दिनका सूतक मानना चाहिये। बहिन के मरने का सूतक भाई को ही लगता है भाई की स्त्री को नहीं। इसी प्रकार भाई के मरने का सूतक बहिन को ही लगता है बहनोई को नहीं लगता। यदि बहनोई अपने साले का मरण सुने तो उसकी शुद्धि केवल स्नान कर लेने मात्र से होती है। इसी प्रकार भोजाई अपनी ननद के मरने के समाचार सुनकर केवल स्नान कर लेने मात्र से शुद्धि मानी जाती है। नाना, नानी, मामा, मामी, धेवता, भानेज, फूफी मौसी इनमें से उसे तीन दिनका सूतक मानना चाहिये। यदि ये अपने अपने घर मरें वा और कहीं मरें तो दो दिनका सूतक मानना चाहिये। यदि इनके मरने के समाचार दश दिन बाद सुने तो उसकी शुद्धि केवल स्नान कर लेने मात्र से मानी जाती है। यदि कोई बालक तीन वर्ष तक का मर जाय तो माता पिता को पूर्ण सूतक मानना चाहिये तथा निकट के कुटुम्बियों को एक दिनका और दूरके कुटुम्बियों को स्नान करने मात्रका सूतक है। किसी किसी आचार्यका यह भी मत है कि पांच वर्ष तक के बालक के मरने का सूतक पूर्ण ही मानते हैं। जिसका चौल कर्म वा मुंडन होगया है ऐसे बालक के मरने पर माता पिता और भाइयों को पूर्ण सूतक लगता है। तथा निकटके कुटुम्बियों को पांच

दिन का और दूरके कुटुम्बियों को एक दिनका सूतक लगता है। जिसका उपनयन वा जनेऊ हो चुका है ऐसे बालक के मरने पर माता पिता और निकट कुटुम्बियों को पूरा सूतक लगता है। पाचवीं पीढ़ी के कुटुम्बियों को छह दिन का, छठी पीढ़ी के कुटुम्बियों को चार दिन का और सातवीं पीढ़ीं के कुटुम्बियों को एक दिन का सूतक लगता है। सातवीं पीढ़ी से आगे के लोगों को नहीं लगता। यदि पहले मरण सम्बन्धी एक सूतक लगा हो और उसमें ही एक दूसरा सूतक मरण सम्बन्धी और आजाय तो पहला सूतक समाप्त हो जाता है। इसी प्रकार जन्म सम्बन्धी एक सूतक में जन्म सम्बन्धी दूसरा सूतक आजाय तो पहला सूतक समाप्त हो जाता है तथा मरण सम्बन्धी सूतक में जन्म सम्बन्धी सूतक समाप्त होने पर ही दूसरा जन्म सम्बन्धी सूतक समाप्त हो जाता है। परन्तु जन्म सम्बन्धी सूतक समाप्त होने से दूसरा मरण सम्बन्धी सूतक समाप्त नहीं होता।

❀ देशांतर का सूतक

यदि अपने माता पिता वा भाई दूर देश में मर जाय तो पुत्र वा भाई को पूर्ण दश दिनका सूतक मानना चाहिये। तथा दूरके

❀ जिस देश के बीच में कोई बड़ी नदी हो पर्वत हो जिस देशकी भाषा बदल जाय और जो जिस योजन एक सौ बीस कोस दूर हो उसको देशांतर कहते हैं।

कुटुम्बियों को एक दिन का सूतक मानना चाहिये यदि कोई पुत्र अपने माता पिता के मरने के समाचार दश दिन बाद सुने तो तो उसको सुनने के दिन से प्रारम्भकर पूर्ण दश दिनका सूतक मानना चाहिये। तथा अन्य दूर वा निकट के कुटुम्बियों को पहले के समान एक दिन का सूतक मानना चाहिये। यदि देशांतर में पति का मरण हो जाय तो पत्नी को दश दिन का सूतक मानना चाहिये, यदि देशांतर में पत्नी का मरण हो जाय तो पति को दश दिनका सूतक मानना चाहिये। यदि कोई स्त्री दश दिनके बाद दूर देश में मरे हुए अपने पति का समाचार सुने तो उसको पूरा सूतक मानना चाहिये। इसी प्रकार यदि पति दश दिनके बाद दूर देश में मरी हुई अपनी स्त्री का समाचार सुने तो उसे भी उस समय से पूर्ण दश दिन तक सूतक मानना चाहिये। यदि अनेक वर्षों के बाद भी माता पिता के मरनेके समाचार सुने जाय तो भी पुत्र को पूर्ण दश दिन का सूतक मानना चाहिये, इसी प्रकार अनेक वर्षों के बाद पति के मरने के समाचार सुनकर पत्नीको पूर्ण सूतक मानना चाहिये और पत्नी के मरने का समाचार सुनकर पति को भी पूर्ण सूतक मानना चाहिये। यदि पिता के मरने के दश दिन के भीतर ही माता का मरण हो जाय तो पुत्रके लिये पिता की शुद्धि होने पर्यंत ही पूर्ण सूतक माना जाता है। यदि माता के मरने के दश दिन के भीतर ही पिताका मरण हो जाय तो पिता के मरने के दिन से लेकर दश दिन तक पूर्ण सूतक मानना चाहिये। यदि माता पिता दोनों का मरण एक ही साथ सुना जाय तो सुनने के दिन से

लेकर पुत्रादिकों को पूर्ण दश दिन का सूतक मानना चाहिये। यदि स्त्री वा पुरुष अत्यंत रोगी हो और उसको सूतक पातक लग जाय तो सूतक पातक की अवधि समाप्त होने पर उसकी शुद्धि इस प्रकार करनी चाहिये कि एक कोई नीरोग मनुष्य वा स्त्री स्वयं स्नान कर उस रोगी का स्पर्श करे तथा फिर स्नान कर उसका स्पर्श करे। इस प्रकार दशबार स्नान कर उसका स्पर्श करे फिर अन्त में गीले वस्त्र से उसको पोछकर वस्त्र वदलवा देवें, इस प्रकार करने से उस रोगी के लिये सदाचार को निरूपण करने वाली पूर्ण शुद्धि मानी जाती है। अथवा जन्म मरण के सूतक पातक के अन्त में होने वाली शुद्धि विशेष रोगी पुरुषों के लिये वार वार नमस्कार मंत्रको पढ़कर गंधोदक के छींटे देने से तथा पुण्याहवाचन मंत्र के पढ़ देने से भी मानी जाती है। ये गंधोदक के छींटे कई वार देने चाहिये। पति के मरने के दश दिन के भीतर ही यदि पत्नी रजःस्वला हो जाय अथवा प्रसूता हो जाय तो उसे अपने समय पर शुद्ध होकर तथा स्नान कर वस्त्रादिक का त्याग करना चाहिये। यदि रजःस्वला हुई है तो चौथे दिन और प्रसूता हुई है तो एक महिना बाद स्नान कर वस्त्रादिक का त्याग करना चाहिए। यदि कोई पुरुप विजली से मर जाय अथवा अग्नि में जलकर मरजाय तो उसके घरवालों को प्रायश्चित्त लेना चाहिये। फिर दश दिन का सूतक मानना चाहिये। यदि कोई पुरुप विप खाकर आत्म हत्या करले अथवा किसी शस्त्र से आत्म हत्या करले तो उसके घरवालों की शुद्धि प्रायश्चित्त से ही हो सकती है अथवा अनेक व्रतों के पालन करने से होती है। ऐसे

पुरुष के कुटुम्बी लोगों को अपनी शुद्धि के लिये पुण्याहमंत्रका पाठ करना चाहिये और एकसौ आठ कलशों से भगवान जिनेन्द्रदेव का पंचामृत अभिषेक करना चाहिये। जो पुरुष सदा अत्यंत रोगी बना रहता है, मिथ्यादृष्टि है, मूर्ख है, कुबुद्धि है, धार्मिक क्रियाओं से रहित है, पाखंडी है, पापी है, मिथ्या घमंड धारण करता है। स्त्री के आधीन रहता है, श्रावकों के त्याग करने योग्य पदार्थों का त्याग नहीं करता, जो पतित है, जो गोलक (पिता के मरने के बाद किसी दूसरे पुरुष से उत्पन्न हुआ) है, ऐसे पुरुषों को सदा सूतक ही बना रहता है, इनमें से गोलक को छोड कर बाकी के पुरुष जब भगवान जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका पालन करने लग जाते हैं सम्यग्दृष्टी और सदाचारी हो जाते हैं। अपने जाति के पंचों की आज्ञाका पालन करने लग जाते हैं तब प्रायश्चित्त लेकर अपने पापों का त्याग करने के योग्य हो जाते हैं। जिन लोगों ने दीक्षा लेकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया है जो यज्ञ यागादिक करने वाले हैं उनको पिताके मरनेका तो सूतक लगता है बाकी और किसी प्रकारका कोई सूतक नहीं लगता। जो गृहस्थाचार्य हैं, वा जो उनके शिष्य हैं तथा जो ऋषि वा उपाध्याय हैं और जो आचार्य पद पर विराजमान हैं उनको पिता के मरने पर भी कोई किसी प्रकारका सूतक नहीं लगता। इनमें से गृहस्थाचार्य और उनके शिष्यों को स्नान करने मात्र से शुद्धि मानी जाती है। यदि किसी गृहस्थका मरण सन्यास विधि से हो तो उसके पिता आदि कुटुम्बी लोगों को केवल स्नान करने का ही सूतक माना जाता है।

यदि किसी स्त्री का पति परदेश चलागया हो और उसके मरने का कोई निश्चय न हो तो उस स्त्री को सूतक मानने की कोई आवश्यकता नहीं है।' यदि उसके मरनेका निश्चय हो जाय तो फिर उसे दश दिनका सूतक मानना चाहिये किसी युद्ध के समय में, किसी विलव के समय में, किसी विशेष विपत्ति के समय में, किसी ओर से होने वाले किसी संकट के समय में, राज्य की महाधार्मिक क्रियाओं के प्रारम्भ में अथवा प्रतिष्ठादिक किसी वाली किसी अन्य धार्मिक विधि में, विवाह के समय में, समुद्र वा नदी में डूब मरने के समय में, अग्नि में जल जाने के समय में. किसी घोर आपत्ति के आजाने पर, किसी दुष्काल के पड जाने पर वा प्राणों पर संकट उत्पन्न हो जाने पर वा स्वल्प काल में ही मरने के सन्मुख होने पर, घोर उपसर्ग आजाने पर वा धर्मपर संकट आजाने पर, अथवा श्रेष्ठ क्रिया और श्रेष्ठ आचरणों का लोप हो जाने पर वा अन्य ऐसे ही कारण उपस्थित होने पर मनुष्यों को कोई किसी प्रकार का सूतक पातक नहीं लगता। ऐसी अवस्था में श्रेष्ठ धर्म को बढाने वाला सूतक पातक अपनी शक्ति के अनुसार मान लेना चाहिये। किसी प्रतिष्ठा के समय में, अथवा कुटुम्बी में होने वाले किसी विवाह के समय में यदि सूतक पातक आजाय तो गुरु के द्वारा दिया हुआ व्रत मंत्र वा क्रियाओं से होने वाला शुभ प्रायश्चित्त लेकर शुद्धि कर लेनी चाहिये। इसका भी कारण यह है कि विपत्ति के समय में मंत्र से भी सर्वत्र शुद्धि हो जाती है और फिर गुरु के द्वारा दिये हुए मंत्र से तो सुख देने वाली शुद्धि

अवश्य ही हो जाती है। किसी भी धर्म-कार्य में मंत्र पूर्वक रक्षा सूत्र (कंकण) बांध देने से उसकी शुद्धि मानी जाती है। इसलिये समस्त पुण्य कार्यों में सदा मंत्र पूर्वक शुद्धि करते रहना चाहिये। किसी आपत्ति के समय में अपनी शक्ति के अनुसार लघु शुद्धि कर लेनी चाहिये। और उस समय केवल शुभ मंत्रों के द्वारा ही लघु शुद्धि करनी चाहिये। किसी आवश्यक प्रसंग के आजाने पर भाव पूर्वक गुरु के द्वारा दिये हुए मंत्र के साथ साथ पुण्याहवाचन का पाठ करने से और पुण्याहवाचन को पढ़कर उसके छींटे देने से भी शुद्धि मानी जाती है। इसी प्रकार किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य के आजाने पर स्नान कर गंधोदक के छींटे देने से तथा वार वार जल के छींटे देने से भी शुद्धि मानी जाती है। जो पुरुष अपने हृदय में भगवान जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका दृढ़ श्रद्धान करते हैं वे पुरुष किसी संकट के समय में द्रव्य शुद्धि करें वा न करें परन्तु उस समय यदि अपने भावों की शुद्धता पूर्वक गंधोदक के छींटे लेलेते हैं, गंधोदक के छींटे से अपने शरीर को शुद्ध कर लेते हैं तो आगम के अनुसार उनकी पूर्ण शुद्धि मानी जाती है। जो पुरुष ऊपर लिखे अनुसार सूतक पातक नहीं मानते वे लोग अवश्य ही मिथ्यादृष्टी माने जाते हैं, तथा ऐसे लोग मलिन आचरणों को पालन करने वाले, धर्म भ्रष्ट, पापी और कुबुद्धि कहलाते हैं। जो बुद्धिमान् अपने भावों की विशुद्धता पूर्वक सूतक पातक को मानता है वही पुरुष सम्यग्दृष्टी मोक्ष मार्ग में चलने वाला और धर्म को धारण करने वाला कहा जाता है। यदि कोई

मनुष्य दूर देश में गया हो और उसके मरने जीने की कोई बात सुनाई न पडे तो यदि वह नवयुवक है तो अट्ठाईस वर्ष बाद, यदि वह मध्यम अवस्था का है तो पंद्रह वर्ष बाद और यदि वह वृद्ध है तो बारह वर्ष बाद विधि पूर्वक उसका प्रेत कर्मकर देना चाहिये उसका श्राद्ध करना चाहिये और फिर यथा योग्य रीति से प्रायश्चित्त लेना चाहिये। यदि प्रेत कार्य करने के बाद फिर वह आजाय तो घी के घडों से तथा सर्वौषधि के रस से उसको स्नान करना चाहिए। तथा उसके समस्त संस्कार कराकर मौंजी बंधन संस्कार कराना चाहिये और पहले की स्त्री के साथ उसका फिर से विवाह संस्कार करा देना चाहिये। इस सूतक पातक के मानने से घर की शुद्धि, शरीर की शुद्धि, मनकी शुद्धि, व्रतों की शुद्धि, चारित्र की शुद्धि और अपने आत्माकी शुद्धि होती है, तथा इसी सूतक पातक के मानने से शुभ गति को देने वाले श्रेष्ठ धर्म की वा सुधर्म की प्राप्ति होती है। इसलिये भव्य जीवों को इस सूतक पातकका पालन अवश्य करते रहना चाहिये।